वेद और अवेस्ता

डॉ. सिद्धनाथ शुक्ल

वेद और अवेस्ता

(अनुसन्धानमाला)

लेखक
डॉ० सिद्धनाथ शुक्ल
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

अनुराग प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रकाशक :

अनुराग प्रकाशन

१३१, संत रविदास मार्ग,

पुराना बैरहना, इलाहाबाद

मूल्य : ४०.००

प्रथम संस्करण १९८२

मुद्रक :

न्यू कमल प्रिन्टर्स

४३५, कीडगंज, इलाहाबाद

समर्पण

कवि हृदय, प्रखर राजनीतिज्ञ, अप्रतिम प्रतिभा एवं उज्ज्वल चरित्र के धनी उत्तर प्रदेश के माननीय मुख्य मन्त्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को सादर समर्पित.

× × ×

प्राची में तेरा
रूप लाल
अवलोक धरा
होती निहाल.
× × ×
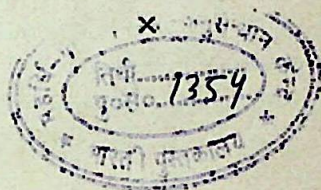
—सिद्धनाथ शुक्ल

प्राक्कथन

सन् १९६८ से प्रो० रा० ना० दाण्डेकर के अभिनन्दन ग्रन्थ से लेकर पिछले वर्ष तक जितने भी अनुसंधान पत्र विभिन्न अनुसंधान पत्रों (Research Journals) में प्रकाशित हुए उन सबको पुस्तकाकार रूप देने का सुझाव बार-बार कई मित्रों ने दिया, किन्तु यह अभी तक सम्भव नहीं हो पाया था। वैदिक अध्ययन की परम्परा में उन्नीसवीं शताब्दी में पिशेल और गेल्डनर के 'वेदिशे-स्टुडीन' तथा ओल्डेनबर्ग के 'वेदिशे फॉरशूंग, के पश्चात् इधर वेंकट सुब्बैय्या के अनुसंधान पत्रों का संकलन 'कान्ट्रीब्यूशन टु द वेदिक इन्टरप्रिटेशन' के नाम से प्रकाशित हुआ था, तब से कोई भी इस प्रकार का संकलन प्रकाशित नहीं हो पाया। यान खोंदा (J. Gonda)के जो भी संकलन प्रकाशित हुए उन सभी के प्रत्येक लेख एक-एक पुस्तक के बराबर हैं। वैदिक अध्ययन क्षेत्र की परम्परा में गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वासुदेव शरण अग्रवाल आदि ने कुछ फुटकर लेखों के संकलन का प्रकाशन अवश्य करवाया था किन्तु आधुनिक अनुसंधान के विकास में वे योगदान अब उतने महत्त्वपूर्ण नहीं रह गये हैं, अतः यह मुझे उचित प्रतीत हुआ कि कुछ अनुसंधान पत्रों को हिन्दी में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जाय। इधर किसलय प्रकाशन की प्रेरणा और बड़ौदा बैंक के अधिकारी मित्रों की सहायता से यह कार्य सम्पन्न हो रहा है, इसकी मुझे प्रसन्नता है।

इस पुस्तक के अन्तर्गत अनेक अनुसन्धान पत्र 'वेद और अवेस्ता सम्बन्धी अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सफल होंगे' ऐसी मुझे आशा है। साथ ही वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में कार्यरत अनुसन्धायकों के लिए इससे कुछ मार्ग-दर्शन भी मिल सकेगा, ऐसा विश्वास है।

पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरे शिष्यों में कु० कुमकुम पाण्डेय, कु० उमा गुप्ता, श्री अरुण कुमार शुक्ल आदि ने मेरी जो सहायता की है एतदर्थ मेरी उनके प्रति यह आकांक्षा है कि मैं भी उनकी इसी प्रकार सहायता कर सकूँ। किसलय प्रकाशन के अधिकारी एवं गणेश प्रिंटिंग प्रेस, पीलीकोठी कीटगंज के सभी कार्य-कर्ताओं ने जो सहयोग दिया है— उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

यह पुस्तक उत्तर प्रदेश के वर्तमान मुख्यमन्त्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को समर्पित है। उस समर्पण के लिए उन्होंने अपना अमूल्य समय निकालकर अपनी अनुमति दी तथा अपना चित्र भेजने का जो कष्ट किया उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। उनकी कर्तव्यनिष्ठा, सच्चाई, लगन, सतत् प्रयास से उत्तर प्रदेश का जो विकास

हो रहा है, उस विकास की भूमिका में मैं यदि उनके साथ रंचमात्र भी सहयोग कर सकूँ तो यह मेरा सौभाग्य होगा; और कुछ नहीं तो ज्ञानगङ्गा की धारा को प्रवाहित करने में तो सहयोग कर ही सकता हूँ, ऐसा दृढ़ विश्वास है।

सुधीजन इस पुस्तक को स्वीकार करेंगे और इसमें जो त्रुटियाँ रह गयी हैं उसके लिए क्षमा करेंगे, ऐसा विश्वास है। जिन-जिन विद्वानों के लेखों, पुस्तकों आदि का इस पुस्तक के प्रणयन में सहारा लिया गया है उन सब के प्रति मैं आजीवन आभारी रहूँगा।

—सिद्धनाथ शुक्ल

चैत्र रामनवमी,
सं २०३८
६७ पुराना बैरहना,
इलाहाबाद २

विषयानुक्रमणिका

विषय — पृष्ठ संख्या

संक्षेप निर्देशिका

अथर्व० = अथर्ववेद
अवे० = अवेस्ता
इ० यू० = इण्डो यूरोपियन
उणा० सू० = उणादि सूत्र
उ० पु० = उत्तम पुरुष
उप० = उपसर्ग
ऋ० = ऋग्वेद
ऋ० सं० = ऋग्वेद संहिता
ऋ० भा० = ऋग्वेद भाष्य
ऋग० दी० = ऋगर्थ दीपिका
ऋग्० ट्रां० = ऋग्वेद ट्रांसलेशन
ए० व० = एक वचन
ऐ० आ० = ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण.
ओल्डे० = ओल्डेनबर्ग
गेल्ड० = गेल्डनर
चतु० = चतुर्थी
तृ० = तृतीया
तै० आ = तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा० = तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं० = तैत्तिरीय संहिता
द्वि० = द्वितीया
दुर्ग० = दुर्गाचार्य
द्र० = द्रष्टव्य
धा० = धातु
धा० पा० = धातु पाठ
नपुं० = नपुंसक लिङ्ग
नि० = निघण्टु
निरु० = निरुक्त
पञ्च० = पञ्चमी
पा० अ० = पाणिनि अष्टाध्यायी
प्र० = प्रथमा
प्र० पु० = प्रथम पुरुष
पु० = पुल्लिङ्ग
पृ० = पृष्ठ
ब० व० = बहुवचन
ब० व्री० = बहुव्रीहि
मै० सं० = मैत्रायणी संहिता
म० पु० = मध्यम पुरुष
मैक्डॉ० = मैक्डॉनल
मैक्स म्यू० = मैक्स म्यूलर
यजु० = यजुर्वेद
वा० सं० = वाजसनेयि संहिता
वें० मा० = वेंकट माधव
वे० ग्रा० = वेदिक ग्रामर
वे० री० = वेदिक रीडर
शत० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण
सं० = संबोधन
स० = सप्तमी
सं० सा० इ० = संस्कृत साहित्य का इतिहास
सा० . सायण
सा० भा० = सायण भाष्य
सि० कौ० = सिद्धान्त कौमुदी
सै० बु = सैक्रेड बुक्स आफ् द ईस्ट
से० पी० कों० = सेंट पीटर्सबर्ग कोश
स्कन्द = स्कन्द स्वामिन्
स्त्री० = स्त्रीलिङ्ग

आप श्रौ० सू०	आपस्तम्ब श्रौत सूत्र
आश्व० श्रौ० सू०	आश्वलायन श्रौत सूत्र
उणा० सू०	उणादि सूत्र
ऋ० प्रा०	ऋग्वेद प्रातिशाख्य (शौनकीय)
ऋ० व्या०	ऋग्वेद व्याख्या
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
का० सं०	काठक संहिता
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
जै० ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
तां० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
वृ० उ०	वृहदारण्यकोपनिषद्
मनु	मनु स्मृति
वै० प० को०	वैदिक पदानुक्रम कोष
शां० ब्रा०	शांखायन ब्राह्मण
सा० वे०	सामवेद

ओ॰ सं॰ टे॰=ओरिजनल संस्कृत टेक्ट्स—मूइर

ABORI=Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.

Altind.Gram=Altindische Grammatik.

Der RV.=Der Rigveda.

Ety. Sans. Dict=Etymological Sanskrit Dictionary.

Gr. Ety. wort=Griesisch Etymologiche woerterbuch.

Ind. Ger. Ety. wort=Indo—germanischen Etymologischen woerterbuch.

JAOS=Journal of American Oriental Society.

PP=Pages.

RV. M. II=Rgveda Maṇḍala II

SBE=Sacred Books of the East.

Sans. Gram=Sanskrit Grammar.

Ved. R.=Vedic Reader

Ved. Gram.=Vedic Grammar

Woert=Woerterbuch zum Rigveda.

WZKM=Wiener Zeitschrft fuer die Kunde des Morgen landes.

ZDMG=Zeitschrift fuer Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft.

ऋग्वैदिक अध्ययन की गत एक शताब्दी : पुनर्मूल्यांकन

भारतीय इतिहास में निरन्तर उथल-पुथल होती रही है जिसका प्रभाव यहाँ के समाज उसकी संरचना और विकास पर भी पड़ता रहा है। देश की साहित्यिक गतिविधि भी इतिहास के साथ गहरे रूप से संबद्ध होती है। किसी भी सामाजिक क्रांति के साथ देश का परिवेश उसका विकास या ह्रास और उसकी सामाजिक प्रक्रिया निरन्तर प्रभावित होती रहती है। सामाजिक ठहराव या बदलाव में वहाँ का साहित्य जहां एक ओर सहायक होता है वहीं उसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की परिवर्तन सम्बन्धी प्रक्रियायें भी होती रहती हैं। ५ वीं शती ईसा पूर्व के आस-पास बौद्ध और जैन धर्मों के उदय के साथ उसके पूर्व पलता हुआ ब्राह्मण धर्म, ह्रास की ओर उन्मुख होने लगा था, जिसके कारण वैदिक साहित्य के अध्ययन अध्यापन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वैदिक साहित्य मूलतः धार्मिक प्रक्रियाओं यज्ञादि से गहरे रूप से संलग्न था। बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण वैदिक धर्म पर गहरा कुठाराघात हुआ है। यज्ञादि कर्मों की कड़ी आलोचना हुयी थी, राज्याश्रय छिन गये थे, जिससे वेद के पढ़ने पढ़ाने वाले कम होते चले गये। यही कारण था कि यास्क के निरूक्त के पश्चात् छठवीं शताब्दी तक लगभग १३०० वर्षों तक ऋग्वेद का कोई भी व्याख्या ग्रंथ नहीं मिलता; और जब हर्ष के काल में ब्राह्मण धर्म को पुनः राज्याश्रय मिला तो वेदाध्ययन की गरिमा आप से आप बढ़ने लगी। हर्ष के पूर्व गुप्त काल से ही ब्राह्मण धर्म का विकास होने लगा था और यह प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हुयी थी किन्तु यह प्रक्रिया एक लम्बे अन्तराल तक नहीं चल सकी। उत्तर भारत में मुसलमानों के आक्रमण आदि और उनके धर्म के प्रचार के साथ उनके शासन की स्थापना से बाह्मण धर्म पर पुनः एक बार गहरा आघात लगा जिसके कारण वेद का अध्ययन अध्यापन उत्तर भारत से खिसक कर दक्षिण भारत में सीमित हो गया।

जिन ऐतिहासिक एवं सामाजिक कारणों से वेदाध्ययन में अवरोध आये थे, लगभग उन्हीं कारणों ने १९वीं शताब्दी में इसकी पुनः स्थापना भी की थी। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के माध्यम से आने वाले अंग्रेजी शासन ने इस देश की बागडोर अपने हाथ में लेनी चाही। उसके लिये आवश्यक था कि इस देश के समाज या इसकी संस्कृति एवं सांस्कृतिक मूल्यों को समझा जाय तभी यहाँ के समाज

में प्रवेश पाकर लोगों को अपने पक्ष में किया जा सकता था। इन्हीं कारणों से भारत में अनेक विदेशी मिशनरियों ने यहां के धार्मिक ग्रथों का अध्ययन प्रारम्भ किया था। वे हिन्दू धर्म का इतिहास उसकी अच्छाइयों बुराइयों को जानना चाहते थे और बहुत ही परोक्ष रूप से यहाँ की जनता में उस धर्म के प्रति धीरें-धीरे उपेक्षा का भाव भरना चाहते थे। इस सम्बन्ध में फर्कुहर J(. N. Farquhar) और बार्थ (A. Barth) की हिन्दू धर्म संवन्धी पुस्तकों को देखा जा सकता है जिसमें बहुत ही चतुराई के साथ हिन्दू धर्म की कमियों को अंकित किया गया है।

धर्म संवन्धी बातों की गवेषणा के साथ ही उन लोगों का ध्यान वैदिक साहित्य की ओर गया। सर्वप्रथम ऋग्वेद संबंधी कुछ हस्तलिखित प्रतियों के माध्यम से लोगों ने इसका अध्ययन प्रारम्भ किया एवं कुछ अनुवाद कार्य भी प्रारम्भ किया गया। अनुवाद का प्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य १ ३८-३९ में लैटिन भाषा में रोजेन द्वारा प्रकाशित किया गया। ऋग्वेद के प्रथम मडल के प्रथम अष्टक का यह अनुवाद ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इन पर कम लोगों का ध्यान गया फिर भी प्रारम्भिक अध्ययन की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण कार्य था। उस समय योरोप में वेद के अध्ययनकर्त्ता नाम मात्र के थे। साथ हीं सामग्री भी अत्यन्त सीमित थी। १८४४-४६ में रूडोल्फ रोठ को ७५ सूक्तों की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुयी उसी आधार पर उन्होंने एक लम्बा लेख वैदिक भाषा पर लिखा। रोठ के इस लेख ने जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड में हलचल मचा दी और अनेक विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। इस लेख के साथ ही रोठने बोह्‌ठलिक के साथ वैदिक भाषा कोश का कार्य प्रारम्भ किया जिसके परिणाम स्वरूप 'सेंट पीर्टस वर्ग संस्कृत व्योर्टरबुख सात भागों में १८७१-७९ तक में प्रकाशित हुआ। वैदिक साहित्य के अध्ययन अध्यापन और अनुसन्धान के क्षेत्र में यह कार्य आज भी अद्वितीय माना जाता है। रोठ ने कार्य प्रारभ करते समय कहा था कि 'हम लोग भाषा विज्ञान, धर्म आदि के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर वेद की व्याख्या सायण से अधिक अच्छे ढङ्ग से कर सकते हैं।' उनकी उस बात की प्रतिक्रिया अनेक क्षेत्रों में हुयी थी। किन्तु जहाँ तक उनके बृहद शब्द कोश से सिद्ध होता है उन्होंने अधिकांश अर्थ सायण द्वारा प्रदत्त अर्थों के आधार पर ही किये हैं।

जिस समय रोठ इत्यादि ने कार्य प्रारम्भ किया उस समय वेद का प्रकाशन पुस्तक रूप में नहीं था। अतः इसकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सर्व प्रथम वेद का सम्पादन कार्य मैक्सम्यूलर ने अपने हाथों में लिया और अपने कुछ सहयोगियों के साथ उन्होंने इस विशाल कार्य को इग्लैंड में १८४० के आस-पास प्रारंभ किया। ऋग्वेद का प्रथम भाग सायण भाष्य सहित १८४९ में प्रकाशित हुआ और १८५७ तक छः भागों में सम्पूर्ण ऋग्वेद प्रकाश में आया। इसी संपादन के साथ मैक्सम्यूलर ने अन्य भी बहुत से कार्य किए जिनमें (Sacred Books of the East) का ५०

भागों में प्रकाशन इस क्षेत्र की बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। साथ ही वैदिक भाषा धर्म इत्यादि का अनुसंधान भी मैक्सम्यूलर के कार्यों में महत्त्व रखते हैं। यह कहा जाय तो अयुक्ति न होगी कि मैक्सम्यूलर ने भारत की प्राचीन विरासत से पाश्चात्य देशों को भली भांति परिचित करवाया। उनकी पुस्तक (India What can It Teach Us) इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

मैक्सम्यूलर जिस समय ऋग्वेद का संपादन कर रहे थे उसी काल में ऋग्वेद के अनुवाद का कार्य भी महत्त्वपूर्ण रूप से होने लगा। विल्सन (H. H. Wilson) ने यह कार्य अपने हाथों में लिया ओर १८५४ में उन्होंने इसका प्रथम भाग प्रकाशित किया। इसी के बाद सम्पूर्ण ऋग्वेद का अग्रेजी अनुवद ७ भागों में प्रकाशित हुआ। जहां एक ओर रोठ आदि विद्वान सायण द्वारा की गई व्याख्या की अवहेलना करते रहे थे वही विल्सन ने सायण को आधार मानकर संपूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद किया। आज भी उनका अनुवाद अपने ढङ्ग का अनूठा है। वही एक मात्र अनुवाद है जिससे अंग्रजी के माध्यम से अध्यापन करने वाले लोग ऋग्वेद को समझने में समर्थ होते हैं। यद्यपि उनके ही समकालीन अन्य लोगों ने भी अनुवाद कार्य अपने हाथ में लिया किन्तु वे उतने महत्त्वपूर्ण नहीं बन पाये। कारण यह है कि भाषा ज्ञान की सीमा के कारण अन्य भाषाओं के अनुवाद इतने लोकप्रिय नहीं बन सके जितने विल्सन द्वारा किए हुए। उसी समय जो दूसरा अनुवाद हुआ, वह था जर्मन में ग्रासमान द्वारा दिया गया ऋग्वेद का पद्यात्मक अनुवाद जो दो भागों में (Uebersetzung des Rigveda)। के नाम से १८७६ में प्रकाशित हुआ। उनका यह अनुवाद भी इतना लोकप्रिय न बन सका। किन्तु उनके द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद का शब्द कोश (Woerterbuch zum RV.) आज भी अपने ढङ्ग का अनूठा कार्य है। ऋग्वेद के समस्त शब्दो का संदर्भ सहित अर्थ देकर उन्होंने अनुसन्धान कार्य को आगे बढ़ाया। १८७२ में प्रकाशित यह ग्रंथ अब भी उतना ही लोकप्रिय है जितना प्रकाशन के समय था। ऋग्वेद संबन्धी कोई भी अनुसन्धान इस अवलोकन के बिना अधूरा ही माना जायगा।

१९ वीं शती के पश्चार्ध में जो कार्य हुये वे मुख्यतया संपादन और अनुवाद के रूप में ही सीमित रहे; व्याख्या का यह कार्य उस समय बहुत तेजी से आगे बढ़ा था। ग्रासमान के अनुवाद के पूर्व मैक्सम्यूलर ने स्वयं भी ऋग्वेद के समस्त मरुत् सूक्तो का अनुवाद व्याख्या सहित किया, जो (Sacred Books of the East) के ३२ वें भाग में १८९३ में प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद आज भी अनेक रूपों मे श्रेष्ठ माना जाता है।

इसके साथ मैक्सम्यूलर द्वारा दी गई दीर्घ भूमिका में ऋग्वेद की व्याख्या से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का समाधान किया गया है। साथ ही अनुवाद के पश्चात् जो व्याख्यात्मक टिप्पणियां है वे व्याख्या के क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं। समस्त सन्दर्भों को

एकत्रित कर तुलनात्मक रूप से व्याख्या करने का मार्ग मैक्समूलर ने बहुत अच्छा प्रकार प्रदर्शित किया था—यह बात मरुत् सूक्तों के इस अनुवाद से परिलक्षित होती है

इसी अन्तराल का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य लुडविग (A. Ludwig) का है जिन्होंने ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद और उसकी व्याख्या १८७६ मे जर्मनी में ५ भागों में प्रकाशित की। उन्होंने ऋग्वेद के सही पाठ पर भी अनेक टिप्पणियां की साथ ही व्याख्यात्मक ढंग से एक नया अनुवाद भी प्रस्तुत किया। उनका ग्रंथ (Brahmanischen Hymnen Komentar und ubersetzung) व्याख्या के क्षेत्र में एक विशिष्ट उपलब्धि है। यद्यपि समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर उनके अनुवादों में अनेक स्थलों पर प्रश्न चिह्न लगाये जा सकते हैं किन्तु उनके कार्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। बाद में आने वाले अनेक व्याख्याकारों एवं ऋग्वेद के अनुयायियों के लिये उनका पथ प्रदर्शन महत्त्वपूर्ण था। उन्हीं के समकालीन अनेक वैदिक विद्वानों ने उनकी सम्मतियों का सन्दर्भ बार-बार दिया है।

उन्नीसवीं शती के पश्चार्द्ध में जो कार्य हुए वे मुख्यतया सम्पादन और अनुवाद के रूप में ही सीमित थे। इस अनुवाद कार्य में अनेक अनुसन्धानकर्ता फुटकहे रूप में भी कार्य करने में लगे थे जिसके माध्यम से विशिष्ट स्थलों, शब्दों आदि की बृहद् व्याख्या का कार्य हुआ। इस कार्य में ही जर्मनी से Kuhns Zeitschrift और Zeitschrift Fuer Deuscher Morgenlandichen Gesicht का प्रकाशन महात्त्वपूर्ण माना जायगा। जिन पत्रिकाओं में ऋग्वेद की व्याख्या एवं अन्य तत्संबंधी सामग्री का प्रकाशन बृहद् रूप में हुआ उनकी Volumes में आज भी अनेक अंश पठनीय हैं। John Muir द्वारा अनेक संस्कृत ग्रन्थों से संबंधित सामग्री Original Sanskrit Texts के नाम से पांच भागों में १८६८-७१ के मध्य प्रकाशित की गई जिनमें वेद सम्बन्धी अनेक बातों का उल्लेख है। इसी के पश्चात् पिशेल (R. Pischel) और कार्ल फ्रेडरिक गेल्डनर (K. F. Geldner) द्वारा ऋग्वेद से सम्बन्धित कार्य का प्रारम्भ माना जायगा। इन दोनों विद्वानों ने अनेक मंत्रों एवं संदर्भों की फुटकर व्याख्या की जिसे अनेक पत्रिकाओं ने प्रकाशित किया किन्तु उन्होंने इसे पुस्तक का रूप देकर 'वेदिशे स्टुडीन' (Vedische Studien) के नाम से तीन भागो मे १८८८ में प्रकाशित किया। व्याख्या के क्षेत्र में आज भी उनकी यह रचना पथ-प्रदर्शक के रूप मे मानी जाती है। इसी प्रकाशन के दो वर्ष पूर्व ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी का प्रकाशन करके मैकडॉनेल ने वैदिक अध्ययन के क्षेत्र मे प्रवेश किया। वेद के व्याकरण की बात भी इन्हीं सन्दर्भों से जोड़ी जा सकती है। उस समय वेद के व्याकरण का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं था जिससे कि पाश्चात्य व्याख्याकार सहायता प्राप्त कर सकते। आज जिस रूप में हम इस क्षेत्र में अनेक अनुसंधान ग्रन्थ पाते हैं या अनेक अनुसंधानों को पाणिनीय व्याकरण की ओर उन्मुख पाते हैं, उस काल में वैसी

ख्यात नहीं थी । अनुसंधान कार्य पुस्तकों के अभाव में बहुत ही धीमी गति से चल रहा था । किन्तु जो भी था वह ठोस धरातल पर आधारित एवं निष्ठा के साथ समन्वित था । अब यह अध्ययन कार्य इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस से उठ कर अमेरिका तक पहुँच गया था । व्याकरण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय R. Lanman का था जो Noun Infleection in the Veda के नाम से १८८० में न्यू-हैवेन से प्रकाशित हुआ । सर्वप्रथम यह Journal of American Oriental Society । में प्रकाशित हुआ, और बाद में इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया । इसी के साथ हम मैकडॉनल के विशाल ग्रन्थ 'वैदिक ग्रामर' की भी चर्चा कर दें तो अच्छा होगा । यह पहली पुस्तक थी जिसमें वेद के व्याकरण सम्बन्धी ग्रंथियों को पाश्चात्य विद्वानों के सम्मुख खोला गया अन्यथा व्याकरण का क्षेत्र सूना ही रह जाता । इसी ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप बाद में 'वैदिक ग्रामर फार स्टूडेन्ट्स' के रूप में प्रकाशित हुआ । मैक-डॉनल के अन्य कार्यों की चर्चा करने के पूर्व मैं पुनः व्याख्या ग्रन्थों की ओर लौटना चाहूँगा ।

इस बीच जहाँ एक ओर ऋग्वेद की व्याख्या का प्रश्न मुख्य था। वहीं वैदिक धर्मदर्शनशास्त्रादि संबंधी बातों पर भी लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ । इस काल में इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य फ्रांस मे बेर्गेन्य (A. Bergaigne) द्वारा किया गया । उन्होने La Religion de Vedique (रेलिजियों द वेदीक) नाम से अपनी पुस्तक का प्रकाशन पेरिस १८७८-८० के मध्य तीन भागों मे किया । पुस्तक में उन्होने ऋ० के धर्म दर्शन-देवशास्त्र एवं व्याख्या सभी से संबधित प्रश्नों को समेटा है । यह ग्रन्थ मूलत. ऋ० के मंत्रों पर आधारित है । मंत्रों का आधार बनाकर उससे संबंधित धर्म की विवेचना करते समय उन्होने मंत्रों का फ्रेंच अनुवाद भी प्रस्तुत किया जिससे एक साथ अनेक कार्य होने गये । एक शताब्दी बाद भी उनका यह ग्रन्थ ऋग्वेद के धर्म को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है । यही कारण है कि इसका अंग्रेजी अनुवाद कुछ वर्षों पूर्व पूना में प्रो॰ बी॰ जी॰ पराञ्जपे द्वारा किया गया, जिसके दो भागो का प्रकाशन वहाँ से 'पुलर' प्रकाशन द्वारा हो चुका है । उस काल में जिस ढंग से अनेक बातों का मूल ग्रंथों के आधार पर विश्लेषण चल रहा था वह आज भी अनुकरणीय है ।

इसी सन्दर्भ में हम इससे महत्त्वपूर्ण कार्य की भी चर्चा कर लें तो अच्छा होगा । ऋग्वेद के धर्म संबंधी अनुसंधानों मे बेर्गेन्य के पश्चात् दूसरा नाम हरनाम ओल्डेनबेर्ग का आता है । उन्होंने ऋग्वेद के समस्त अग्नि-सूक्तों का अनुवाद और धर्म सम्बन्धी अनुसंधान का कार्य साथ-साथ सम्पन्न किया । जैसा कि उनके दो ग्रन्थों के प्रकाशन काल से स्पष्ट होता है, उनका इस क्षेत्र मे प्रथम ग्रंथ Religion des Veda है जिसका प्रकाशन सन् १८८४ ई० में दो भागो में हुआ । यह ग्रन्थ वैदिक धर्म के संबंध में बहुत समय तक अधिकारिक रचना के रूप में माना जाता रहा है ।

इसके अन्तर्गत ऋ० के धर्म के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों का समावेश भी किया गया। अनेक सन्दर्भों का जर्मन भाषा में अनुवाद ऋ० के व्याख्या के विकास के सूचक हैं। उनका दूसरा ग्रन्थ ऋ० के अनुवाद एवं व्याख्या के रूप में इस ग्रन्थ के एक वर्ष के बाद १८९५ में मैक्सम्यूलर द्वारा सम्पादित 'Sacred Books of the East' की ४६वीं Volume में प्रकाशित हुआ। इसमें सम्पूर्ण अग्नि सूक्तों के साथ ही अनेक दुरूह शब्दों एवं स्थलों की टिप्पणियाँ व्याख्या की दृष्टि से जोड़ी गई हैं। ओल्डेनबर्ग का इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान उनकी पुस्तक Rigveda Text Kritische uud Noten के रूप में है जिसमें व्याख्या संबंधी टिप्पणियों के साथ-साथ ऋ० के पाठ पर भी अनेक शंकायें एवं विचार प्रस्तुत किये गये हैं जो कभी-कभी निराधार मालूम पड़ते हैं। इसका प्रकाशन १९०९ में हुआ था। इसका अंग्रेजी अनुवाद पूना में भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के दिवंगत प्रो० बी० जी० पराञ्जपे ने ही किया है जिसका प्रकाशन दिल्ली से मोतीलाल बनारसीदास से संभाव्य है। जहाँ तक ओल्डेनबेर्ग के कार्यों के मूल्यांकन का प्रश्न है उस काल से लेकर अब तक उनका महत्त्व वैदिक क्षेत्र में बराबर बना हुआ है। वैसे समीक्षात्मक दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट होता है कि ऋ० के अनुवाद की दृष्टि से उनका अनुवाद बहुत गम्भीर प्रतीत नहीं होता जिसमें पाणिनि व्याकरण और स्वर प्रक्रिया की अज्ञानता अनेक स्थलों पर प्रतीत होती है। साथ ही उनके Noten (नोटेन) में पाठ समीक्षा सम्बन्धी बातें भी आलोचनीय हैं किन्तु इससे अनुसंधान प्रक्रिया की दृष्टि से उसका महत्त्व कम नहीं होता; क्योंकि उस काल में आज जैसे अनेक साधन, जैसे—भाषा-विज्ञान, व्याकरणादि इतने विकसित नहीं थे।

ओल्डेनबेर्ग के दो अन्य कार्यों की चर्चा यहाँ प्रसंगवश कर देना अच्छा होगा। वैदिक यज्ञ पर उनका ग्रन्थ 'रिचुअल लिट्राटूर' (Ritual Literatur) और 'वेद फोरशंग' (Veda Forschung) नाम से प्रकाशित उनके अनुसंधानात्मक लेखों का संग्रह—इस क्षेत्र की विशिष्ट उपलब्धि रहा है। 'Forschung' में उनका एक लेख वैदिक सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने शिव, शुभ, भद्र, कल्याण आदि शब्दों को सुन्दर का पर्याय कहा है। इस पुस्तक के प्रायः सभी लेख ZDMG, आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे जिन्हें आज भी पुरानी प्रतियों में देखा जा सकता है। पुस्तक रूप में प्रकाशित इस ग्रन्थ में ओल्डेनबर्ग ने उस समय की अनुसन्धान प्रक्रिया का विवरण भी प्रस्तुत किया है। १९ ५ तक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की चर्चा उन्होंने इसमें की है। मैक्सम्यूलर जिस समय इगलैण्ड मे कार्यरत थे उसी समय भारत में भी अनेक विद्वान् इस ओर कार्योन्मुख थे। बनारस संस्कृत कालेज मे प्रिंसिपल के रूप में कार्यरत प्रो० आर० टी० एच० ग्रिफिथ (Prof R. T. H. Griffith) ने इसी काल में अपना ऋ० के अनुवाद का कार्य आरम्भ किया था। सम्पूर्ण ऋ० का पद्यात्मक अनुवाद उन्होंने दो भागो से १८८९-९२

में प्रकाशित किया था। इससे स्पष्ट होता है कि १८५० ई० के बाद ऋ० सम्बन्धी अनुसन्धान मे बहुत तीव्रता से कार्य हुए थे। एक ओर तीव्रता से सम्पादन कार्य अनक लोगों द्वारा और दूसरी ओर अनुवाद एवं व्याख्या के कार्य साथ-साथ चलते रहे। ग्रिफिथ का अनुवाद पद्यात्मक होने पर भी अच्छा प्रतीत होता है। उस समय किये गये अनुवादों में विल्सन, ग्रिफिथ, ओल्डेनबर्ग इन सभी का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि ग्रिफिथ का अनुवाद विकासात्मक दृष्टि से एक-दो सीढ़ी आगे है। यद्यपि अपनी सम्पूर्णता में अनेक त्रुटियाँ भी संजोये है, किन्तु आज भी उसकी उतनी ही उपयोगिता है जितनी उस समय थी जब यह प्रकाशित हुआ था, क्योंकि आज भी अंग्रेजी में सम्पूर्ण ऋ० के दो ही अनुवाद है विल्सन और ग्रिफिथ के—जिनको आधार मानकर अनुसंधान किया जा रहा है। यही कारण है कि अब तक इन अनुवादों के चार-चार संस्करण निकल चुके हैं। यद्यपि अब बड़ी आवश्यकता है कि नये अनुसंधानों के आधार पर अनुवाद के नये प्रयास हों, किन्तु जिन विद्वान् व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में प्रयास किया भी है वे इस कार्य को पूर्ण न कर सके। राष्ट्रभाषा हिन्दी में तो एक भी प्रमाणिक अनुवाद नहीं है, जिसकी महती आवश्यकता है।

ग्रिफिथ और ओल्डेनबेर्ग के साथ इस क्षेत्र में कार्य को आगे बढ़ाने वालों में गेल्डनर का नाम आता है। गेल्डनर ने ऋ० का जर्मन में अनुवाद कुछ व्याख्या के साथ आरम्भ किया। उनके कार्य का आरम्भ १८८५ के लगभग ही माना जा सकता है, क्योंकि १८८८ में उन्होंने पिशेल के साथ Vedische Studien (Vidic Studies) का प्रकाशन किया था किन्तु उनका कार्य १९०९ में समाप्त हुआ। उस समय का यह महत्त्वपूर्ण कार्य था, किन्तु इसका प्रकाशन नहीं हो सका। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण इसके प्रकाशन में कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई और कई वर्षों बाद १९२३ में इसका प्रथम भाग पहली बार जर्मनी मे प्रकाशित हो सका। दुर्भाग्यवश संसार के समक्ष यह ग्रन्थ बहुत देर से आया। प्रकाशन सम्बन्धी उस समय कितनी कठिनाइयाँ थीं, इससे अन्दाज लगाया जा सकता है कि इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अन्ततः १९५१ में हार्वर्ड अमेरिकन ओरियण्टल सीरीज (H. A. O. S.) में अमेरिका में तीन भागों में प्रकाशित हो सका। Der Rigveda Uebersetz (ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद) के नाम से प्रकाशित ऋग्वेद का यह अनुवाद अब तक किये गये अनुवादों में श्रेष्ठ माना जाता है। इसी के साथ चौथे भाग में देवताओं आदि की अनुक्रमणी है और अलग से एक भाग में ग्लोसार (Glossar) है, जिसमें ऋ० के महत्त्वपूर्ण शब्दों का अर्थ संग्रहीत है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम काल और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल की चर्चा अधूरी रह जायगी यदि इसमें दो महत्त्वपूर्ण नामों को न जोड़ा जाय। वे नाम हैं ब्लूमफील्ड एवं मैकडॉनल के। इन दोनों लोगों ने मिलकर एक कार्य प्रारम्भ

किया जिसका प्रतिफलन 'वैदिक इण्डेक्स' के नाम से विख्यात है। वैसे तो यह समस्त वेदसाहित्य पर आधारित है किन्तु ऋग्वेद को इसमें प्रधानता मिली है।

पाश्चात्य प्राचीन विद्वान् तो न रह गये, किन्तु पाश्चत्य वैदिक अध्ययन निरन्तर गति से अपने सातत्य को बनाये रहा। वर्तमान शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में मैक्डॉनेल, कीथ, ब्लूमफील्ड, लैनमैन, ह्विटनी, पीटर्सन इत्यादि विद्वानों ने वैदिक अध्ययन की परम्परा के सातत्य को बनाये रखने के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया और नये-नये पथ प्रदर्शन भी किये। वह बात उन्हीं से रुकी नहीं। लुई रनू, पाउल ठीमे, थान खोंदा, हांसपीटर श्मिट तथा अन्य विद्वानों ने ऋग्वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किये। रनू की सोलह भागों में ऋग्वेद व्याख्या—ठीमे की अर्थ-पर व्याख्या, Fremdling im der Rigveda, खोंदा की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें, श्मिट की वैदिक व्रत और अवेस्तन उर्वात् सम्बन्धी व्याख्या तथा ऋग्वेद के बृहस्पति और इन्द्र का समीक्षात्मक अध्ययन और इसी के साथ अन्य महत्त्वपूर्ण अनुसंधान पत्र इस महत्त्वपूर्ण योगदान के अन्तर्गत आते हैं। इधर १९७४ के आसपास रुडीगर श्मिट की ऋग्वेद और अवेस्ता सम्बन्धी पुस्तक एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान मानी जा सकती है। यहाँ अवकाश के अभाव में अनेक विद्वानों का नाम लेना असंभव है अतः उन सब पाश्चात्य विद्वानों के प्रति मात्र हम अपने नमन की अभिव्यक्ति ही कर सकते हैं।

अभी तक हमने पाश्चात्य विद्वानों की चर्चा की, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भारत के लोग इस क्षेत्र में पीछे रहे, जहाँ एक ओर पाश्चात्य विद्वत्ता ने पथ का निर्माण किया वहीं भारतीय विद्वानों ने उस पथ में जो रोड़े आ रहे थे उनको दूर किया। वैदिक संशोधन मण्डल पूना द्वारा ऋग्वेद का संशोधित संस्करण और विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर का १६ भागों में वैदिक पदानुक्रमकोश, ऋग्वेद एवं अथर्ववेद का व्याकरण कोष और ऋग्वेद का ७ भागों में विभिन्न व्याख्याओं सहित सम्पादन इस क्षेत्र के बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य समझे जाते हैं, जिनके बिना ऋग्वेद का अध्ययन अध्यापन अधूरा ही रह जाता।

सन् १९३५ के आस पास से बम्बई विश्वविद्यालय में प्रोफेसर ह० द० वेलणकर ने ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद प्रारम्भ किया और उसी विश्वविद्यालय के अनुसंधान पत्र में उसका प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ, जो बाद में १९६० से १९६८ के मध्य क्रमशः सप्तम मण्डल, द्वितीय मण्डल और तृतीय मण्डल पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुआ। इसी बीच बड़ोदा विश्वविद्यालय में एस० एस० भावे ने ऋग्वेद के नवम मण्डल पर एक बहुत अच्छा व्याख्या का कार्य आरम्भ किया जिसमें उन्होंने पाणिनि व्याकरण और आधुनिक भाषा विज्ञान को स्थान देकर व्याख्या के क्षेत्र में एक नयी दिशा का दिग्दर्शन कराया। नवम मण्डल का सम्पूर्ण अनुवाद तो उन्होंने अपने जीवन में Soma Hymns के नाम से पूर्ण कर लिया था जिसका प्रकाशन

वैदिक साहित्य में 'मख'

वैदिक साहित्य में 'मख' शब्द का प्रयोग बहुलता से हुआ है, किन्तु इसके स्पष्ट अर्थ का निर्धारण अभी तक त्रुटि-पूर्ण संभावनाओं पर ही होता रहा है। वेद के विभिन्न व्याख्याकारों ने परम्परया इसे 'यज्ञ' का पर्याय माना; किन्तु जब हम ऋग्वेद के मन्त्रों पर दृष्टिपात करते हैं तो यह अर्थ सर्वत्र अनुपयुक्त प्रतीत होता है। इस शब्द का सही अर्थ वैदिक काल में ही लुप्त हो गया था, क्योंकि तैत्तिरीय संहिता (तै० सं०) में जहाँ एक ओर 'मख' को 'यज्ञ' का पर्याय कहा गया वहीं देवताओं को 'मख' का हनन करने वाला भी बतलाया गया[1]। किन्तु जब वे एक ओर यज्ञ की कामना करते या उसका सृजन करते परिलक्षित होते हैं[2] तो वे उसके हननकर्ता कैसे हो सकते हैं—यह बात समझ में नहीं आती। किन्तु जब किसी संहिताकार ने एक बार यह बात स्वीकार कर ली कि 'मख' यज्ञ का पर्याय ही है तो उस के परवर्ती संहिताकारों, ब्राह्मणकारों और व्याख्याकारों ने परम्परया उस लीक को ही पकड़ लिया और 'मख' यज्ञ का पर्याय बनकर ही रहा। यहां तक कि सामवेद में ऋग्वेद का ही एक मन्त्र 'मखस्यते' के स्थान पर 'मघस्यते' पाठ को स्वीकार करता है[3] जिसका कारण स्पष्ट रूप से 'मख' और 'मघ' शब्दों को एक ही 'मह्' या 'मंह्' धातु से 'पूजा करने' या 'दान करने' अर्थ में स्वीकारना है किन्तु यह 'मख'-'मघ'-शब्द से पूर्णतया भिन्न है जिसे आगे आने वाले विवेचन में स्पष्ट किया जायगा।

---

१. 'स्वयः स्वस्तिविधनः स्वस्तिः पशुर्वेदिः परशुनः स्वस्तिः। यज्ञिया यज्ञकृतः स्थ ते माऽस्मिन् यज्ञ उप ह्वयध्वमुप मा द्यावापृथिवी ह्वयेतामुपाऽऽस्तावः कलशः सोमो अग्निरूप देवा उपयज्ञ उप मा होत्रा उपह्ववे ह्वयन्तां नमोऽग्नय मखघ्ने मखस्य मा यशोऽर्यादित्याहवनीयमुप तिष्ठते यज्ञो वै मखः' तै० सं० ३, २, ४, १।

२. ''सृजति यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञ नैव यज्ञं संसृजति रुद्राः संभृत्य पृथिवीमित्याहैता वा एवं देवता अग्ने समभरन्ताभिरेवैनं संभरति मखस्य शिरोऽसीत्याह यज्ञो वै मखस्तस्यैतच्छिरो यदुखा तस्मादेवमाह यज्ञस्य पदे स्थ इत्याहं.......... ''

—तै० सं० ५, १, ६, ३।

३. न त्वा शतं च न हुतो राधो दित्सन्तमामिनन्। यत्पुनानो मखस्यसे॥

—सा० वे० (कौथुम) २, ५६१।

किन्तु जैमिनीय सा० वे० (३, २:, ७) में 'मखस्यसे' के स्थान पर 'मघस्यसे' पाठ मिलता है।

ऋग्वेद में इस शब्द की आवृत्ति संज्ञा[४], विशेषण[५] और नामधातु[६] के रूप में कुल ३४ बार हुयी है। अन्य संहिताओं[७] और ब्राह्मणों[८] में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। यह एक विचित्र बात है कि एक परवर्ती उपनिषद्[९] को छोड़कर यह शब्द किसी भी उपनिषद् में नहीं प्रयुक्त हुआ है। वेदांगों में इसका प्रयोग मात्र मन्त्र-प्रतीकों के माध्यम से ही प्राप्त होता है[१०]। अतः उनकी अपनी धारणा इसके अर्थ के प्रति क्या रही होगी—स्पष्ट परिलक्षित होता है। जहाँ 'यज्ञ' का प्रयोग-बाहुल्य हो और पर्याय शब्दों का न हो, उससे तो यही प्रतीत होता है कि पर्याय शब्द के अर्थ के प्रति सन्देहात्मक दृष्टि ही रही होगी।

इसके पहले कि हम किसी उपयुक्त अर्थ का अन्वेषण करें, हमें वैदिक व्याख्याकारों द्वारा दिये गये समस्त अर्थों पर दृष्टिपात कर लेना चाहिये। वैदिक व्याख्या के क्षेत्र में निघण्टु का नाम सर्व प्रथम माना जा सकता है जिसने इसे यज्ञ का पर्याय माना है।[११] यह स्पष्ट है कि जब निघण्टु के पूर्व संहिताओं और ब्राह्मणों में इसे यज्ञ का ही स्वरूप मान लिया गया था तो निघण्टु के समक्ष और दूसरा मार्ग ही क्या था; क्योंकि उस काल में अर्थ-विज्ञान इतना तो विस्तृत था नहीं कि इस पर पूर्ण विचार किया जाता। यास्क ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की, किन्तु निरुक्त[१२] में एक मन्त्र उद्धृत किया है, जिसे यहाँ उद्धृत किया जा सकता है :—

प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय स्वतवसे भरध्वम्।
ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः॥ ऋ० ६, ६६, ९

---

४. ऋ० १, ६, ८; ६४, १; ११; १३८, १; १६५, ११; ३, ३४, २; ६, ६६, ९; ८, ७, २७ इत्यादि।

५. ऋ० १, १८, ९; ५२, ४; ८५, ४; १८१, ४; २, १८, ४; ५, ८७, ७; ४१, १४; इत्यादि।

६. ऋ० ३, ७१, ७; ९, ६१, २७; १०१, ५; १०, ७३, ७।

७. तै० सं० ३, २, ४, १; २; ३; ४, १, ५, ३; ५, १, ६, ३; मै० सं० २, ७, ६; ३, १, ७; ४, १, ९; का० सं० १, ८; १६, ५; १९, ६; ३१, ७; क० क० सं० १, ८; ३०, ४; वा० सं० ११, ५७; ३७, ३, ४; ५; ६, ७; ८; ९; १०; अथर्व०, १८, १, २३; २०, ४०, २; ७०४; सा० वे० (जै०) ३, २८, १०, सा० वे० (कौ०) २, ३२४।

८. शां० ब्रा० २०, ४; २१, ३; श० ब्रा० ६, ४, २, १; २; १४, १, २, ९—१४; १६; १९-२१; २५; तै० ब्रा० ३, २, ८, ३; तां० म० ब्रा० ७, ५, ६; गो० ब्रा० २, ५; तै० आ० ४, २, २; ३; ४ इत्यादि।

९. संहितोपनिषद्—१५।

१०. आप० श्रौ० सू० १५, ३, ७; कात्या० श्रौ० सू० १६, ३, २२; २६, १, १०; १२; १० १६; कौ० गृ० सू० १, १६, ७।

११. निघण्टु ३, १७, १०।

१२. निरु० ३, ४।

'हे अग्नि, स्तूयमान, त्वरितगामी और स्वयंवलशाली मरुत् के लिये सुन्दर गान का भरण करें जो मरुद्गण शत्रुओं के बल को अपने बल द्वारा अभिभूत करते हैं, हे अग्नि उन 'मखों' से पृथिवी कम्पित होती है[१३]।

प्रस्तुत मन्त्र में यदि 'मखेभ्यः' का अर्थ 'पूज्य' या 'महनीय' लिया जाय, जैसा कि सायणादि व्याख्याकारों ने माना है, तो यह कठिनाई होगी कि 'पूज्य' या 'महनीय' से पृथिवी क्यों भयभीत होगी ? पृथिवी तो किसी उग्र या तेजस्वी अथवा योद्धा से ही भयभीत होगी, जैसा कि अन्यत्र ऋग्वेद में मरुतों के सम्बन्ध में कहा गया है।[१४] अतः इस प्रकार के सन्दर्भ इस शब्द के 'यज्ञ' अर्थ को स्वीकार करने में बाधक प्रतीत होते हैं। किन्तु फिर भी परम्परया इस अर्थ को स्वीकृति मिलती रही।[१५] वेंकटमाधव ने इसका अर्थ 'यज्ञ' माना और इसकी निष्पत्ति 'मंह्' (दान करना) धातु से स्वीकार की जैसा कि उनकी 'मखाः' की 'दातारः' व्याख्या से स्पष्ट परिलक्षित होता है।[१६] उनके पूर्ववर्ती व्याख्याकारों में स्कन्दस्वामिन्[१७] ने भी इसे 'यज्ञ' अर्थ में ग्रहण किया है, किन्तु माधव ने इसे 'मंह्' धातु से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ 'पूज्य[१८]' या 'यज्ञ[१९]' किया है। सायण ने इन सभी परम्परागत व्याख्याकारों का अनुसरण किया है और इसके अर्थ 'यज्ञ[२०]' 'दान[२१]' 'धन[२२]' और 'बल[२३]' किये हैं। एक स्थान पर इसे विशेष व्यक्ति का नाम भी माना है।[२४] इस शब्द के अर्थ में इन व्याख्याकारों का अपना कोई योगदान नहीं है; क्योंकि उनका मुख्य आधार संहिताओं से चली आ रही परम्परा ही रही है। किन्तु अनेक स्थानों पर जहाँ इसका 'यज्ञ' से कोई सम्वन्ध नहीं था वे अपने मौलिक विचार प्रस्तुत कर सकते थे जिसे करने में वे असफल रहे।

---

१३. सायण ने यहाँ 'मखेभ्यः' का अर्थ 'मंहनीयेभ्यो मरुद्भ्यः' किया है।

१४. ऋ० १, ३९, ५; ६४, ७; ८५; ८; ५, ५२, ६; ६०, २; ७, ७, ४; २६ इत्यादि।

१५. ऋगर्थदीपिका (लक्ष्मणस्वरूप द्वारा सं०, दिल्ली १९३९-५५), भा० १, पृ० ४२०; भा० २, पृ० १००; भा० ३, पृ० ५०४; भा० ४, पृ० ७०८।

१६. वही, भा० १, पृ० ३२५।

१७. वही भा० ३, पृ० ११५ (टिप्पणी)।

१८. ऋग्वेद व्याख्या (सी० के० राजा द्वारा सं०, अड्यार पुस्तकालय १९४७), भा० २, पृ० ४९३।

१९. वही, भा० १, पृ० ११४ (१९३७)।

२०. ऋ० भा० १, ६, ८; ३८, १; ९४, १; १८५; ११; २, १८, ४; ४, ३, १४३ ५, ८७, ७ इत्यादि।

२१. वही, ९, २०, ७

२२. वही ९, ६१, २७; ६४, २६।

२३. वही १०, २०, १।

२४. वही ९, १०१, १३।

पाश्चात्य व्याख्याकारों में मैक्समूलर ने इसके अर्थ 'बलवान्[२५]' या 'कार्यशील[२६]' और 'यज्ञ[२७]' किये हैं। रोठ ने इसके अर्थ 'समुल्लसित या प्रहर्षित' (munter, lustig, ausgelassen-Adj.), 'दान' या 'उत्सव' (Freudenbezeugung, Feier, Preis), 'यज्ञ' (Opfer) एक देवशास्त्रीय 'व्यक्ति विशेष' (eines unholden mythischen Wesens) किया है[२८]। ग्रासमान ने इसकी निष्पत्ति 'मख्' धातु से मानी है और इसे ग्रीक mazomai से सम्बन्धित किया है। उनके अनुसार इस शब्द का 'मह्' या 'मंह्' धातु से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस आधार पर उन्होंने इसका अर्थ 'योद्धा' (Kampfer) या 'विजेता' (Bekampfer) किया है[२९]। ग्रासमान द्वारा उठाई गई प्रतिपत्तियाँ इस शब्द के मूल अर्थ-निर्धारण में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। गेल्डनर ने इसे 'उपहार' (Schenken,[३०] या 'उदार' (Freigebige)[३१] अर्थ में ग्रहण किया है। बेरगेन्य ने इसे ब्राह्मण ग्रन्थों और परवर्ती साहित्य में 'यज्ञ' अर्थ में तथा ऋग्वेद में यज्ञ से सम्बन्धित व्यक्तियों या देवताओं के विशेषण रूप में प्रयुक्त मानकर इसका अर्थ 'स्तोता', 'गायक' आदि किया है। साथ ही सायण के समान एक विशेष व्यक्ति के नाम रूप में भी स्वीकार किया है[३२]। इस देवशास्त्रीय व्यक्ति का विवरण हिलेब्रांड्ट ने भी किया है[३३]। लुईरनू ने इसके अर्थ पर सन्देह व्यक्त किया है, किन्तु इसे 'मघ' का ही एक परिवर्तित रूप माना है[३४]। इस प्रकार पाश्चात्य व्याख्याकारों में भी इसके अर्थ पर पर्याप्त मतभेद परिलक्षित होता है। किन्तु इन मतभेदों के रहते हुये भी अर्थ निर्धारण का प्रयास किया गया है।

ऋग्वेद में 'मख'-शब्द संज्ञा और विशेषण रूप में है किन्तु यह जहाँ पर संज्ञा है वहाँ भी विशेषण का ही कार्य करता है। इसके अर्थ निर्धारण के लिये हमारे समक्ष केवल दो साधन हैं—(१) बाह्य साक्ष्य जिसमें ग्रीक, लेटिन या अवेस्ता के शब्दों के साथ साम्य स्थापित कर अर्थ का निर्धारण किया जाय, अथवा (२) अन्तः साक्ष्य, जिसमें ऋ० के मन्त्रों का जिनमें यह शब्द प्रयुक्त है, तुलनात्मक अध्ययन कर

२५. Sacred Books of the East (SBE) Vol. xxxii, p. 126,
२६. Op. cit. p. 107.
२७. Op. cit., p. 392, 397.
२८. Sanskrit Woerterbuch, funfter Teil, p. 421.
२९. Woerterbuch Zum Rigveda, Wiesbaden, 1964, p. 970.
३०. Der Rigveda Uebersetzung ersterteil, p. 85 (RV. 1, 64, 11). 109 (RV. P, 85. 4), (Leipzig, 1951).
३१. Ibid I, p. 187 (RV. 1, 134, 1)
३२. Quarante Hymnes du Rigveda, Paris, 1895. p. 75 f.
३३. Vedische Mythologie, II, 415 n.
३४. Etudes Vediques et Panineennes, iv, Paris 1958, p- 52.

सही अर्थ प्राप्त करने का प्रयास किया जाय। यहाँ हम दोनों साधनों का उपयोग करेंगे।

'मख-' की निष्पत्ति 'मख्' धातु से की जा सकती है जिसका साम्य ग्रीक maxomai (√maxu) से स्थापित किया जा सकता है। ग्री० maxu धा० का अर्थ 'संघर्ष करना', 'युद्ध करना', 'मारना', 'बलि देना' आदि है। इसी के समान लेटिन mactare धा० 'हत्या करना'; गाटिश maki (तलवार) आदि शब्द हैं जो 'मख' के समीप हैं। इस प्रकार 'मख-' का साम्य ग्रीक 'maxémac' 'योद्धा' और लेटिन mactus या macto 'हननकर्ता' से स्थापित कर सकते हैं[३५]; किन्तु कठिनाई यह है कि लेटिन mactare का अर्थ केवल 'मारना' ही नहीं है, अपितु deos extis mactare का अर्थ 'यज्ञ के द्वारा देवताओं को बलशाली बनाना' अर्थात् 'सम्मान करना', 'प्रशंसा करना', 'पूजा करना', आदि भी है। साथ ही धार्मिक वातावरण से अलग इसका अर्थ किसी अच्छी या बुरी वस्तु के उपहार द्वारा किसी को सम्मानित करना (mactare honoribus) भी है। इसी प्रकार mactus vino का अर्थ 'शराब से बलशाली बनाना' भी है[३६]। किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि इस धातु का एक ऐसा अर्थ सब के साथ है जिसका सम्बन्ध 'शक्ति' या 'बल' से है जिसे हम मख के साथ सम्बन्धित कर सकते हैं। अतः हम मख का मूल अर्थ 'शक्तिशाली', 'बलवान्', 'योद्धा', 'विजेता' आदि ही मानेंगे। यह बात ऋग्वैदिक सन्दर्भों से और अधिक स्पष्ट हो जायगी। इसके अतिरिक्त ग्रीक के maxa (युद्ध), max-inos 'योद्धा, वीर', maxn-ins 'योद्धा' (Homer-Lxx)[३७] शब्द भी मख के समान हैं जो इसके अर्थ के स्पष्टीकरण में सहायक हैं।

ऋग्वेद में इन्द्र और मरुद्गण को 'सुमख' कहा गया है[३८]। इन्द्र को 'सुमख' कहते हुये उससे अनुरोध किया गया है कि वह 'हनन' न करे :—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
अष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥ २, १८ ४.

---

३५. Grrssmann, Woerterbuch, 970; H. Frisk, Grieschisches Ety. Woert. Teil. II, p. 187; Wackernagel und Debrunnr. Altindische Grammatik, I, 119; Kuhn's Zeitschrift. 16, p. 164; S. S. Bhave, Soma-Hymms of the RV., II, p. 17 f.

३६. J. Gonda, "The meaning of Sanskrit mahas and its relatives" in the Journal of the Oriental Institute, Baroda. Vol. viii, No. 3 p. 268 f.

३७. H. Frisk, Op. cit. II, p. 187.

३८. ऋ० १, ८५, ४; १८९, ४; २, १८, ४; ५, ८७, ७; १०, ५०, १।

"हे इन्द्र आह्वान किये जाते हुये तुम दो या चार या छः अश्वों द्वारा आगमन करो। आठ या दस अश्वों के सहित भी इस अभिषुतसोम के समीप (पानार्थ) आओ। हे 'सुमख', हमारी हिंसा न करो[39]।" यहाँ 'मृधः' (हिंसा, शत्रु, संग्राम आदि) के साथ 'सुमख का अर्थ यदि 'सुयज्ञ' या 'सुधन' करें, जैसा कि सायणादि ने किया है, तो उचित अर्थ की संगति नहीं प्रतीत होती; क्योंकि हिंसा तो वही करेगा जो भयानक, योद्धा या वीर होगा। अतः 'सुमख' का अर्थ यदि यहाँ 'योद्धा', 'वीर', या शक्तिशाली' करें तो अधिक संगत होगा।

अन्यत्र इन्द्र के बल (सहः) के साथ 'सुमख' को विशेषण रूप में रखा गया है[40] :—

प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ॥

"उस महान् इन्द्र की जो सब का नेता और उत्पादक है तथा सोमरस से उल्लासित है, पूजा करो (प्रशंसा करो)। जिसके अधिक शक्तिशाली बल और महान् यश एवं पौरुष की प्रशंसा (पूजा) आकाश और पृथ्वी करते हैं।"

'सहस्' शब्द उस 'शक्ति' या 'बल' का द्योतक है जो अभिभव करने में समर्थ है, जैसा कि इसके मूल में 'सह अभिभवे' धातु से द्योतित होता है। यही नहीं, अपितु वे सभी वैदिक नपुंसक संज्ञायें तथा उनसे साम्य रखने वाली इण्डो-यूरोपियन भाषाओं की अन्य संज्ञायें जिनके अन्त में 'अस्' है वे सभी 'शक्ति' की द्योतक हैं, और

---

३९. वेलंकर ने यहाँ पर 'सुमख' को 'अयं सुतः' के साथ अन्वित किया है और चतुर्थ पाद का अर्थ 'Here is the pressed juice, a very liberal god, Do not despise it' किया है जो समुचित नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि 'अयं सुतः' अंश पूर्वांश के साथ ही अन्वित किया जाना चाहिए और उसके साथ प्रथम पाद के इन्द्र का सम्बन्ध ही स्थापित करना चाहिये जिसके साथ 'याहि' क्रियापद का सान्निध्य है। 'सुमख' को 'मा मृधस्कः' के साथ अन्वित करने पर ही उचित अर्थ की प्राप्ति संभव है। साथ ही 'मृधः' का अर्थ 'हिंसा' या 'हिंसक' जैसा ही है, जैसा कि ऋ० के अन्य सन्दर्भों (१, १३१, ६; १३८, २, १८२, ४; १७४, ६) से स्पष्ट होता है। अतः इसका अर्थ 'घृणा करना' या 'अनादर करना' नहीं है। वेलंकर ने जो अन्य संदर्भ उद्धृत किये हैं (ऋ० ४, २०, १०; ७, २५ ४; ७३, ४; ७४, ३) उनमें भी हिंसा का ही भाव द्योतित होता हैं। द्रष्टव्य—**H. D. Velankar, RV II Maṇḍala (Translation of 2. 18. 4.)**

४०. ऋ० १०, ५०, १।

वह शक्ति सामान्य शक्ति के धरातल से परे है[४१]। अतः यहाँ 'सहः' इन्द्र के अभिभव करने की 'शक्ति' का प्रतीक है, और 'सुमख' विशेषण इसे और अधिक तीव्र बना देता है। अतः 'सुमख' का अर्थ यहाँ 'उग्र' या 'अत्यन्त शक्तिशाली' किया जा सकता है। अथवा 'बल' शब्द को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये उसका एक पर्याय और जोड़ दिया गया है।

मरुद्गणों को 'सुमखासः' कहा गया है। वे अपने आयुधों द्वारा प्रकाशित होते हैं और अपने ओजस् द्वारा अच्युत को भी च्युत करते हैं :—

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा ।

मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥ ऋ० १, ८५, ४.

'जो शक्तिशाली मरुद्गण अपनी शक्ति से[४२] अच्युत को भी प्रकम्पित करते हुये आयुधों द्वारा प्रकाशित होते हैं; मन के समान वेग वाले उन मरुतों ने जब बलशाली समूह के रूप में होकर[४३] अपने रथों में चितकबरी हिरणियों को युक्त किया (तब वर्षा होती है)।

यहाँ पर यदि 'सुमखासः' का अर्थ 'शोभन यज्ञः' या 'सुधनाः' किया जाय, जैसा कि वें० मा० और सा० ने किया है, तो उचित अर्थ की प्रतीति नहीं होती; क्योंकि यहीं पर मरुतों के लिये जितने विशेषण प्रयुक्त हैं सभी इस बात के द्योतक हैं कि युद्ध की तैयारी में हैं; यज्ञ की नहीं। साथ ही अन्यत्र भी उनके लिए प्रयुक्त विशेषण 'घोरवर्पसः[४४], भीमाः[४५], उग्राः[४६], धृष्णवः[४७]; दुर्मदाः[४८], रुक्मवक्षसः[४९],

---

४१. **J. Gonda**, 'Ancient Indian ojas, Latin *augos and the Indo-European noun in-es/-os'; Utrecht, 1952; Some observation on the relations between 'gods and powers' in the Veda, The Hague 1957, passim; 'The meaning of Sanskrit mahas ....'etc. op. cit. p. 236.

४२. 'ओजस्' शब्द के विस्तृत विवेचन के लिये द्र० **J. Gonda**, Anc. Ind. ojas, Latin * augos etc.

४३. 'वृषव्रातासः' के विस्तृत विवेचन के लिये द्र० MaxMueller, SBE, xxxii, p. 138 ff.

४४. ऋ० १, ६२, २; १, १९, ५.

४५. ऋ० २, ३४, १; ५, ५६, २; ७, ५८, २.

४६. ऋ० १, २३, १०; ८, २०, १२; १, १९, ४.

४७. ऋ० ७, ५६, ८.

४८. ऋ० १, ३९, ५.

४९. ऋ० २, ३४, २; ८, २०, २२.

विद्युद्धस्ता[५०], सुक्षत्रास:[५१]—उसके बल के ही द्योतक हैं, उनके यज्ञ स्वरूप के नहीं। अतः 'सुमखास:' यहाँ पर 'योद्धा, वीर, शक्तिशाली' आदि अर्थों की ओर ही इंगित करता है।

ऋग्वेद में अन्यत्र[५२] उन्हें 'रुद्रास:' और सुमखास:' साथ-साथ कहा गया है जहाँ वे अग्नि के समान तीव्र तेज वाले हैं :—

ते रुद्रास: सुमखा अग्नयो यथा तुविद्युम्ना, अवन्त्वेवयामरुत् ।

दीर्घं पृथु पप्रथे सद्म पार्थिवं येषामज्मेष्वा महः शर्धास्तद्भुतैनसम् ॥

"वे रुद्र के पुत्र, शक्तिशाली (योद्धा), अग्नि के समान तीव्र दीप्ति वाले मरुद्गण, तीव्रता से आकर[५३] हमारी रक्षा करें। उनके लिये दीर्घ और विस्तृत पार्थिव स्थान प्रथित किया गया है जिनके पाप रहित गमन में महान् बल भी साथ-साथ गमन करता है।"

५०, ऋ० ८, ७, २५.

५१. ऋ० १, १९, ५.

५२. ऋ० ५, ८७, ७.

५३. प्रस्तुत मन्त्र में 'एवयामरुत्' पद सन्देहास्पद है। परम्परया इसे प्रस्तुत सूक्त के ऋषि के रूप में स्वीकार किया गया है जो 'एवयामरुत् आत्रेय के नाम से कहे गये हैं। किन्तु 'आत्रेय' अकेले ही ऋषि का नाम हो सकता है, उसके साथ 'एवयामरुत्' जोड़ने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अतः 'एवयामरुत्' का यहाँ ऋषि से कोई साम्य नहीं दृष्टिगोचर होता। अपितु यह मरुतों के लिये ही प्रयुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि एक वचन में होने से इसमें सन्देह हो सकता है, किन्तु छन्द की दृष्टि को ध्यान में रखकर वैदिक ऋषियों के लिये ऐसा प्रयोग करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'एवयावत् विष्णु (१, १५६, १) और मरुतों (५, ४१, १६) का विशेषण है स्त्रीलिंग में 'एवयावरी' (६, ४८, १२) भी 'वृष्टिधारा' के लिये मरुतों के साथ प्रयुक्त है जो उनके तीव्र गमन का सांकेतिक रूप है। रोठ ने (St. P. Wort) 'एवयावन्' को 'एवया:' रूप में माना है जिसका अनुसरण मैक्समूलर (Op. Cn. p. 281 f) ने भी किया है। किन्तु यहाँ पर यदि इसे क्रिया विशेषण के रूप में तृतीयांत रूप मानकर 'एवया' जैसा ही ग्रहण करें, जैसा कि ग्रासमान (Op. Cit. p 303) ने किया है, तो अधिक संगत होगा। 'एवन्' को ग्रीक aies और aeél गाथिक aiv, अवेस्तन ae, āva के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है जो गत्यर्थक हैं (KZ. II, p. 235), अथवा ग्रीक Evoi या लेटिन Evoi के साथ भी साम्य संभव है (SBE, xxxii p. 365)। यहाँ पर यह भी संभव है कि मरुतों के साथ विष्णु का आह्वान किया गया हो, क्योंकि एववावन उनके विशिष्ट विशेषण हैं (J. Gonda, Aspects of Early Visnuism, (Utrecht, 1954) p. 57, 109)

यहाँ रुद्रासः', 'तुविद्युम्नाः' और 'सुमखाः' मरुद्गणों की शक्ति के द्योतक हैं। अतः 'सुमखाः' का अर्थ 'योद्धा' या वीर ही उपयुक्त होगा, 'सुव्रन' या 'सुयज्ञ' नहीं।

अन्यत्र कहा गया है कि मरुतों के कारण पृथ्वी प्रकम्पित होती है :—

प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय स्वतवसे भरध्वम्।

ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथ्वी मखेभ्यः ॥ ऋ० ६, ६६, ९

"हे अग्नि! ध्वनि करते हुये त्वरित गति वाले स्वयं बलशाली उन मरुतों के लिये सुन्दर गान का भरण करें जो अपनी शक्ति के द्वारा शक्तिशालियों को भी अभिभूत करते हैं तथा जिन बलवानों से पृथिवी भी प्रकम्पित होती है।"

यहाँ 'मखेभ्यः' का अर्थ सा० और वें० मा० ने 'महनीयेभ्यः' किया है जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने इसे 'मह्' धातु से ही निष्पन्न माना है। किन्तु महानता से पृथ्वी का कम्पित होना संगत नहीं; वह तभी कम्पित होगी जब उसके सामने कोई भयंकर योद्धा होगा। अतः 'मखेभ्यः' का अर्थ यहाँ 'शक्तिशाली योद्धाओं से' करना ही संगत प्रतीत होता है। अन्यत्र भी कहा गया है कि मरुतों से पर्वत, पृथिवी आदि सभी कम्पित होते हैं।[५४]

अन्यत्र भी मरुतों को 'मखाः' और ध्रुव को च्युत करने वाला कहा गया है :—

हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आपथ्यो न पर्वतान्।

मखा अयासः स्वसृतो ध्रुवच्युतो दुध्रकृतो मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥१, ६४, ११.

"जल के द्वारा वर्धित हुये मरुतों ने हिरण्यमय वज्र द्वारा पर्वतों का उसी प्रकार हनन किया (बादलों को चूर्ण किया) जैसे कि मार्ग में जाता हुआ (पथिक) तृणादि को चूर्ण करे। वे मरुत् योद्धा, गमनकर्ता स्वयं गमनशील होते हुये, ध्रुव को च्युत करने वाले, दुर्धर्ष और प्रकाशमान हैं।"

यहाँ मरुत् सम्बन्धी प्रयुक्त विशेषणों के साथ 'मखाः' का अर्थ यदि 'पूज्य', 'यज्ञशील' या 'यज्ञवान्' करें, जैसा कि वें० मा० और सा० ने किया है, तो अर्थ की

५४. ऋ० १, ६४, ३; ५, ६०, ८; ८, ७, ४.

कोई संगति नहीं बैठती; अतः 'योद्धा', वीर, या 'शक्तिशाली' अर्थ करना ही संगत होगा।[५५]

इसी प्रकार अन्यत्र भी मरुद्गणों को 'सुमख' या 'मख' विशेषण से युक्त किया गया है।[५६] साथ ही उन सभी स्थानों पर 'मख-' का अर्थ 'वीर', 'योद्धा', 'शक्तिशाली' आदि करना ही संगत होगा। जिस प्रकार मरुद्गण सुमख हैं वैसे ही रुद्र को भी ,सुमख' कहा गया है[५७] जहाँ पर 'सुयज्ञ' या 'सुपूजनीय' अर्थ न कर 'शक्तिशाली' अर्थ करना चाहिये। क्योंकि रुद्र भी उन्हीं गुणों से सम्पन्न है जो मरुत् के साथ कहे गये हैं।[५८]

इन्द्र के लिये भी 'मख' विशेषण आया है जिसमें से एक स्थल का निर्देश पूर्व ही किया जा चुका है। एक स्थान पर इन्द्र को 'वृष्णे सुमखाय[५९]' कहा गया है, जहाँ पर मरुद्गण भी साथ-साथ स्तुत्य हैं तथा 'वृष्णे' पद के साथ 'सुमखाय' उसी प्रकार वीरत्व का द्योतक है जैसे कि मरुतों के साथ 'वृषव्रातासः सुमखासः[६०]' विशेषण उनकी शक्ति का द्योतक है। अतः वहाँ पर 'सुमखाय' का अर्थ 'शोभन यागाय' (सायण) न होकर 'सुवीर्योपेत' करना ही संगत होगा। एक स्थान पर इन्द्र के लिए 'मखस्य' और 'तविषस्य' विशेषण साथ-साथ आये हैं।[६१] 'तविषस्य' पद इन्द्र के बल का द्योतक है; अतः

---

५५. बेनफे ने 'मखा' अयासः' का अर्थ 'अथक योद्धा' (die nie muden kaempfer) संगत है (द्र० Glossar zum Sāmaveda, s. v.) कूहन ने ((KZ, iv, p, 19) 'मखाः' को यहाँ पर स्त्रीलिंग 'मखा' रूप में अनुमानित किया है जो सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; क्योंकि संधिगत विसर्ग का लोप होने के कारण यहाँ 'मखा' प्रतीत हो सकता है। किन्तु यह 'मरुतः' का विशेषण होने से स्त्रीलिंग में नहीं हो सकता अतः उनका कथन —'Nehen diesen masculinum makha scheint auch ein femininum makhā—' उचित नहीं है। 'अयासः का अर्थ उन्होंने 'युद्ध में भ्रमण करते हुये) zum kampfe wandelnd) किया है जो मान्य नहीं हो सकता। 'अयासः' को प्रायः 'अय' का प्र० ब० का रूप मान लिया जाता है, किन्तु यह 'अयास्' का (प्र० व० व०) रूप है जैसा कि द्वि० ए० व० के 'अयासम्' (ऋ० ६, ८१, ३; ०) से स्पष्ट प्रतीत होता है (द्र० मैक्डॉनेल वे० री० पृ० ३६)। इसे 'अ + यास्' के रूप में विश्लेषित कर सकते हैं जिसमें उत्तर पद धातुज संज्ञा के रूप में 'यम्' धा० (प्रयत्न करना, अतिशय उद्यम करना) से निष्पन्न है (द्र० ग्रासमान, Woerterbuch Zum RV. 97)। इसका अर्थ 'उद्यमी, द्रुतगामी' किया जा सकता है। साथ ही धात्वर्थ जो स्वयं को उद्यमी न बनावें, अर्थात् जो स्वभाविक रूप से उद्यमी हैं; किया जा सकता है (द्र. **S. S. Bhave**, Soma Hymns II p. 80)।

५६. ऋ० १, ६४, १, ३, ४१, १४.
५७. ऋ० ४, ३, ७.
५८. ऋ० २, ३३, ८, ११, ३४, २.
५९. ऋ० १, १६५, ११.
६०. ऋ० १, ८५, ४.
६१. ऋ० ३, ३४, ३.

'मखस्य' को भी वहाँ इसी सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिये तथा इसका अर्थ 'योद्धा' या 'वीर' समझना चाहिये; 'महनीय' नहीं, जैसा कि सा० ने माना है।

एक स्थान पर सवितृ को भी 'मखः' कहा गया है जहाँ उनके अन्य विशेषण 'मखः' के ही साथ 'युवा' और 'सुदक्षः' हैं।[६२] अतः इस सन्दर्भ में भी 'मखः' का अर्थ 'वीर' या 'शक्तिशाली' किया जाना चाहिये; 'महनीय' नहीं; क्योंकि 'महनीय' की संगति नहीं बैठती।

सोम की एक योद्धा या वीर के साथ तुलना करते हुये उसे 'मखः' कहा गया है।[६३] यह विशेषण सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सोम के साथ संलग्न है। यहाँ कहा गया है :—

क्रीळुर्मखो न मंहयुः पवित्रं सोम गच्छसि। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥

"हे सोम, खिलाड़ी योद्धा के समान उदार होकर तुम स्तोता के लिये सुवीर्य (पुत्र) को धारण करते हुये पवित्र (कुश समूह) के समीप गमन करते हो।"

सायण ने यहाँ पर 'मखः' का अर्थ 'दान' किया है जो 'क्रीळुः' पद के साथ नितान्त असंगत है; क्योंकि ये दोनों पद एक साथ उपमान रूप में यहाँ हैं।[६४]

अग्नि को भी 'मख'-विशेषण से विभूषित किया गया है :—

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।

विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती ॥ १०, ११, ६.

हे अग्नि ? माता-पिता (द्यावापृथिवी) को जागृत करो। जिस प्रकार जार (प्रेमी) अपनी प्रिया की कामना करता है वैसे ही कामना करने वाला (सोम) हृदय से तुम्हारी कामना करता है। जब वाहक (सोम) बोलता है तो वीर (अग्नि) कर्मशील

६२. ऋ० ६, ७१, १.

६३. ऋ० ९, २०, ७.

६४. विशेष विवेचन के लिये द्र० S. S. Bhave, op. cit I, p. 17.

होता है। महान् देवता (सोम) वर्धित होता है और प्रार्थना से कम्पित होता है।[६५]

कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ पर 'मख' किसी देवता का विशेषण न होकर स्वतंत्र रूप में किसी वस्तु या व्यक्ति का विशेषण बनकर प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों पर सायणादि परम्परागत व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या 'धन' या 'यज्ञ' अथवा इनसे सम्बन्धित व्यक्तियों से की है। किन्तु उन स्थलों का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि वहां 'मख' का अर्थ इनसे भिन्न है। एक स्थान पर 'मख' को गायन या पूजा करते कहा गया :—

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ १, ६, ८.

"बलोपेत होकर मख (इन्द्र) काम्य गणों (मरुतों) के साथ जो अवद्य और अलौकिक है, गान करता है।"

सायण ने यहाँ पर 'मख-' का अर्थ 'यज्ञ' किया है और उसके लिये निघण्टु को आधार माना है जहाँ उसे यज्ञ का पर्याय कहा गया है।[६६] गेल्डनर[६७] ने 'उदार' अर्थ किया है जिसकी यहाँ कोई संगति नहीं है। इस मन्त्र में 'सहस्वत्' पद 'मख' के अर्थ तथा यह किसके लिये प्रयुक्त है, का निर्णायक हो सकता है। ऋ० में 'सहस्वत्'

---

६५. प्रस्तुत मंत्र का अर्थ सन्देहास्पद है। सा० ने 'जारः' को आदित्य माना है साथ ही हर्यतः' 'वह्निः' और 'मखः' से क्रमशः यजमान, होतृ और अध्वर्यु को ग्रहण किया है। 'असुरः' को 'ब्रह्मन्' कहा है। गेल्डनर Der. RV, III) ने तीनों पादों में कर्ता के रूप में अग्नि का ग्रहण किया है, किन्तु अग्नि प्रथम पाद में सम्बोधन रूप में होने से यहाँ कर्ता हो सकता है या नहीं, इसमें सन्देह है। वेलंकर ने इसे अस्वीकार किया है तथा 'हर्यतः' आदि उपर्युक्त सभी चारों विशेषणों को सोम के लिये ग्रहण किया है (Journal of the University of Bombay Vol. xxvii, pt. 2, p. 12)। यद्यपि, हर्यतः और 'तविष्यते' पद सोम के पक्ष में स्वीकार किये जा सकते हैं (द्र० ऋ० ९, २५, ४; ४३, ३; ७६, ३; ८६, २६), किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में सोम का ग्रहण केवल इस आधार पर कि ये विशेषण सोम के साथ प्रायः आये हैं, नहीं किया जा सकता; क्योंकि कोई भी विशेषण किसी भी देवता के साथ ऋ० में संभव हो सकता है। लेकिन इतने पर भी प्रस्तुत मंत्र जिस सूक्त का अंश है उसमें उषा (सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा·········१०, ११, ३), द्युलोक, आदित्य (१०, ११, १) और सोम (अध त्यं द्रप्सं·········१०, ११, ४) का स्पष्ट कथन होने से इस मंत्र में भी उसके पूर्व सन्दर्भ के आधार पर 'हर्यतः' आदि सभी पद सोम के वाचक प्रतीत होते हैं। सोम को अन्यत्र भी 'वह्निः' (ऋ० ९, ९, ६; २०, ६; ३६, २; ६४, १९), मखः' (९, २०, ७) और 'असुरः' (९, ७३, १, ७४, ७) कहा गया है। इस प्रकार मंत्र में 'पितरा' से द्यावापृथिवी, 'जारः' से आदित्य, 'भगम्' से उषा और 'हर्यतः' आदि से सोम का ग्रहण किया जाना चाहिए।

६६. नि० ३, १४, १.

६७. Der RV. I-P. 8.

शब्द का प्रयोग दस बार हुआ है जिनमें से पाँच बार यह अग्नि के लिये[६८] और तीन बार इन्द्र के लिये[६९] स्पष्टतः प्रयुक्त प्रतीत होता है। एक स्थान पर यह 'मन्यु' के लिये प्रयुक्त है[७०] तथा प्रस्तुत संदर्भ संदेहास्पद है किन्तु समस्त सन्दर्भों का निरीक्षण करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि इसे या तो अग्नि के लिये प्रयुक्त होना चाहिये अथवा इन्द्र के लिये। प्रस्तुत सूक्त में इन्द्र ही प्रधान देवता है; अतः सन्दर्भानुसार अग्नि का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। साथ ही अन्यत्र (ऋ०३, ३४, २) इन्द्र के लिये 'मखस्य ते तविषस्य प्रजूतिमियर्मि....' आदि कहा गया है जहाँ 'सहस्वत्' का स्थान मख के साथ 'तविष-' ले रहा है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र (३, ३१, ७) इन्द्र के लिये ही 'समानमर्यो युवभिर्मखस्यन्' आया है जहाँ पर अंगिरा ऋषि इन्द्र की अर्चना करते हैं। इन सन्दर्भों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत मन्त्र में भी 'सहस्वत्' और 'मख-' का प्रयोग इन्द्र के लिये ही हुआ है, यज्ञ या किसी अन्य के लिये नहीं; और इसका अर्थ 'वीर' या 'शक्तिशाली' करना चाहिये।

एक स्थान पर वायु से प्रार्थना की गई है कि 'मख-' के दान में आगमन करें :—

आ त्वा जुवो रारहाणा अभि प्रयो वायो वहन्त्विह पूर्वपीतये सोमस्य पूर्वपीतये ॥

ऊर्ध्वा ते अनु सूनृता मनस्तिष्ठतु जानती।

नियुत्वता रथेना याहि दावने वायो मखस्य दावने ॥ ऋ० १, १३४, १.

"हे वायु' तुम्हें शीघ्रगामी अश्व गमन करते हुये यहाँ पर पूर्व पान किये गये सोम से पानार्थ रस के समीप वहन करें। तुम्हारे मन को जानती हुयी हमारी वाणी ऊर्ध्व होकर प्रतिष्ठित हो। नियुक्त रथ के द्वारा हे वायु, 'मख-' के दान के समीप आगमन करो।"

प्रस्तुत मंत्र में 'मखस्य' का अर्थ सा० ने 'यज्ञस्य' किया है जिसका अनुसरण गैल्डनर[७१] ने भी किया है। किन्तु यहाँ 'मखस्य' सोम के लिये प्रयुक्त है; क्योंकि इसी मन्त्र में 'सोमस्य पूर्वपीतये' मन्त्रांश को 'मखस्य दावने' के साथ समीकृत किया जा सकता है और 'सोमस्य' के स्थान पर 'मखस्य' को भली-भाँति स्थानापन्न किया जा सकता है। यही नहीं ऋ० में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ 'दावने' का सीधा सम्बन्ध सोम के साथ है; और उन सभी स्थलों का एक समीकरण स्थापित करके यह सिद्ध किया जा सकता है कि 'मखस्य' यहाँ केवल सोम के लिये प्रयुक्त है। समीकरण इस प्रकार

६८. ऋ० १, ६७, ५; १२७, १०; ५, ७, १, ६, ५, ६; ८, १०२, ७.
६९. ऋ० २, १३, ११; ६, २२, १; १०; १०३, ५.
७०. ऋ० १०, ८३, १.
७१. Der Rigveda Uebersetzung I p. 187.

होगा :—मखस्य दावने (१, १३४, १) = इन्दव इमे सुताः······ते त्वा मन्दन्तु दावने (१, १३९, ६) = आ नो मखस्य दावने (८, ७, २७) = पित्वोऽविपस्य दावने (८, ३५, २०) = आ नो वायो महे तने याहि मखाय पाजसे······भूरि दावने (७, ४६, २५) = श्वात्रमर्का अनूपतेन्द्र गोमस्य दावने (८, ६३, ५) = अरं हि ष्मा सुतेषु णः सोमेष्विन्द्र···दावने (८, ९२, २६) = सुते सचा वसूनां च वसुनश्च दावने··सुतस्य सोमस्यान्धसः (१०, ५०, ७)।

प्रस्तुत सन्दर्भों से स्पष्ट है कि 'मखस्य दावने' सोमरस के दान के लिये ही कहा गया है जिसका पान करने के लिये वायु से प्रार्थना की गई है। सोम भी पवमान है और वायु भी पवमान है, इसलिये वायु को उसके समीप आने के लिये कहा गया है। यद्यपि उपर्युक्त सन्दर्भों में बहुत से ऐसे शब्द या वाक्यांश हैं जिन्हें सायणादि व्याख्याकार सोम के साथ सम्बन्धित नहीं मानते, किन्तु समालोचनात्मक अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि उनका सीधा लक्ष्य सोम के लिये है।

ऋ० १, १३८, १ में 'मख': पद दो बार आया है (विश्वस्य यो मन आयुयुवे मखो देव आयुयुवे मखः) जहाँ सा० ने 'मख' को 'देवः' के साथ पूषण का विशेषण मान कर 'यज्ञवान' और अन्तिम 'मखः' को द्वितीयान्त ग्रहण कर 'यज्ञम्' अर्थ किया है। गेल्डनर[७२] ने लगभग इसी रूप में स्वीकार कर उदार अर्थ किया है। किन्तु यहाँ दोनों स्थानों पर यह प्रथमा एकवचन का ही रूप है और 'आयुयुवे' क्रिया के कर्ता के रूप में 'देवः' (पूषण) का विशेषण है। अतः इसका अर्थ दोनों स्थलों पर 'वीर' या 'शक्तिशाली' ही होगा, 'यज्ञवान्' और 'यज्ञ' नहीं। साथ ही मन्त्रांश का अनुवाद 'शक्तिशाली देवता पूषण समस्त प्राणियों के मन को अपने में प्रकर्ष रूप से बार बार सम्मिश्रित करता है—' किया जा सकता है। मंत्र में 'आयुयुवे मखः' की पुनरावृत्ति केवल उस भाव पर जोर देने के लिये की गई है।

एक स्थान पर (ऋ० ८, ७, २७) देवताओं को 'मख' के दान (मखस्य दावने) में आने के लिये आह्वान किया गया है :—

आ नो मखस्य दावनेऽश्वैर्हिरण्यपाणिभिः । देवास उप गन्तन ॥

'हे देवताओ! हमारे सोमदान के समीप अपने हिरण्यपाणि वाले अश्वों द्वारा आगमन करो।'

यहाँ मन्त्र के प्रथम और द्वितीय पाद को ऋ० १, १३४, १ के साथ समीकृत किया जा सकता है जिसका विवेचन किया जा चुका है। अतः सा० की 'यज्ञस्य' व्याख्या

७२. op. cit p. 192.

यहाँ 'मखस्य' के सन्दर्भ में उचित नहीं है। इसी प्रकार इसी सन्दर्भ में ऋ० ८, ४६, २५: के 'आ नो वायो······मखाय पाजसे' को भी ग्रहण किया जा सकता है जहाँ 'मखाय' का अर्थ सायण ने 'महनीयाय' किया है और इसे 'पाजसे' (बलाय-सा०) का विशेषण माना है। यहाँ 'मखाय' सोम के लिये है और 'पाजसे' सोम के रूप (शरीर, वक्षस्थल) के अर्थ में है।[७३] अतः 'मखाय' 'पाजसे' का अर्थ 'शक्तिशाली शरीर' (शक्तिशाली वक्षस्थल वाला सोम) होगा।

एक स्थान पर 'मख-' शब्द का प्रयोग व्याख्याकारों द्वारा किसी विशिष्ट व्यक्ति के नाम के रूप में ग्रहण किया गया है :—

प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः ।

अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ ऋ० ९.१०१, १३

"अभिषूयमाण सोमरस के उस शब्द को मर्त्यमानव न ग्रहण करे (न सुने)। अयज्ञवान् मनुष्य (कुत्ते के रूप वाला अर्थात् नीच) को उसी प्रकार मारो जैसे कि भृगुओं ने 'मख' को।"

प्रस्तुत सन्दर्भ में सा० ने 'मख' को किसी विशेष अपराधी का नाम माना है। गेल्डनर[७४] ने इसे सोम का शत्रु (Somafeind) कहा है जिसे इन्द्र ने मारा है (ऋ० १०, १७१, २)। ग्रिफिथ का कथन है कि यह एक राक्षस का नाम है जो ऋ० में दुबारा नहीं आया है।[७५] यही एक ऐसा सन्दर्भ है जिसके आधार पर परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में 'मख' को एक राक्षस मान लिया गया, और बार-बार देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे उसका हनन करें।[७६] साथ ही इस आधार पर हिलेब्रांड्ट ने 'मख' को एक देवशास्त्रीय व्यक्ति समझ कर इस पर सन्दर्भ ग्रन्थों के आधार पर विस्तृत विवेचन किया[७७]। किन्तु क्या यह वास्तव में एक राक्षस का नाम है, या कोई अन्य वस्तु है, यह प्रश्न यहाँ पर अत्यन्त महत्वपूर्ण है; अतः इस पर विचार करना आवश्यक है।

प्रस्तुत मंत्र (९,१०१,१३) में भृगुओं के साथ 'मख-' का सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो ऋ० में अन्यत्र कहीं भी नहीं है। अतः इसके आधार पर कुछ कहना असंगत

---

७३. 'पाजस्' के विस्तृत विवेचन के लिये द्र० **Samuel D. Atkins, 'The meaning of Vedic pājas' JAOS, vol. 85, No. 1, pp. 9-22.**

७४. **Der Rv. III. P. 106**

७५. **Hymns of the Rigveada, vol. II. p. 369n (Varanasi, 1963)**

७६. तै० सं० ३, २, ४, १: ५, १, ६, ३; मै० सं० ३, १, ७; ४, १, ६, का० सं० १९, ६, क० क० स० ३०, ४, ताण्ड्य महा ब्रा. ७,५, ६, श० ब्रा० ६, ५, २, १ इत्यादि

७७. **Vedische Mythologie, II, 415 f.**

होगा। भृगुओं को 'सोम' का बन्धु कहा गया है (सोमजामय......भृगव........ ऋ० १०, ६२, १०) और सोम से 'जामि:' रूप में उन्होंने आने की प्रार्थना की है (आजामिरत्के अव्यत् भुजे......ऋ० ६, १०१,१४)। अथवा भृगु गणों को 'सोमिनः' (१०,१७१,२) या 'सोम्यास:' (१०,१४,६) कहा गया है और इन्हीं सन्दर्भों में 'इन्द्रः' से 'मख:' के शिर का हनन करते हुए इन 'सोमियों' के गृह में आगमन करने की प्रार्थना की गई है :—

त्वं मखस्य दोधतः शिरोऽव त्वचो भर अगच्छः सोमिनो गृहम् ॥ १० १७१, २।

हे इन्द्र, तुम मख के शिर को कम्पायमान करते हुए त्वचा से अलग कर दो और सोम पूजकों के गृह में आगमन करो।

प्रस्तुत मंत्र में 'अव भर:, क्रियापद, जो ऋग्वेद में केवल यहीं पर आया है, की तुलना 'अव भर' (ऋ० ३,२९,३) से की जा सकती है और उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'अव' भर:' का अर्थ 'नीचे को करना है'। यहाँ 'त्वचा' से 'शिर' को नीचे करने का अर्थ 'काटना' या 'झुकाना' हो सकता है किन्तु शिरः का अर्थ 'दबाया गया', 'चोट किया गया', 'काटा गया' आदि भी हो सकता है जो 'मस्तक' से भिन्न अर्थ का द्योतक है और जिसकी निष्पत्ति 'शॄ' (धा०पा० ३१,१८) से की जा सकती है। इस अवस्था में 'शिर' सोम का भी वाचक हो सकता है जिसे दबाकर इसको निचोड़ा जाता है। प्रस्तुत मंत्र में 'त्वचा' से 'शिर' को नीचे करने का प्रसंग 'सोम' के पौधे की 'त्वचा' को दबाकर उसके शीर्ण रस की प्राप्ति के सन्दर्भ में हो सकता है। सोम को 'मख' कहा गया है क्योंकि वह योद्धा है (ऋ० ८.६१,२५;२६;२८)। साथ ही सोम के 'सिर' का भी उल्लेख अन्यत्र मिलता है (ऋ १,११६,६;६,६८,४)। साथ ही ऋ० ६, १०२, १३ (अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः) में जो भृगुओं को मख के हनन के रूप में कहकर उपमान के रूप में रखा गया है। उसका अर्थ यह भी हो सकता है कि जैसे भृगुओं ने सोम को दबाकर उसका हनन किया (रस निकाला) उसी प्रकार इन्द्र नीच और अयज्ञवान् पुरुष का हनन करे। क्योंकि भृगुओं के सम्बन्ध में जो भी सन्दर्भ हैं[७८] कहीं भी उन्हें किसी का हनन करते हुए नहीं कहा गया, अपितु बहुत से स्थलों पर वे दूसरों के हनन की प्रार्थना ही करते हैं। हाँ वे अग्नि का 'मंथन' करने वाले अवश्य हैं।[७९] और उस मंथन का सम्बन्ध 'सोम' के 'मन्थन' से या 'हनन' से जोड़ा जा सकता है। अतः 'मखं न भृगवः' (६,१०२,१३) और 'मखस्य दोधतः शिरः (ऋ० १०,

७८. ऋ० १, १२७, ७; १४३, ४; २, ४, २; ४, ७, १' ६, १५, २; ७, १८,६; १०, १४, ६; ६२, १०.

७९. ऋ०, १२७, ७.

१७२, २) में 'मख' को सोम के लिये ही प्रयुक्त मानना चाहिये। साथ ही यहीं इस बात को भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि ऋ० के यही दो स्थल ऐसे हैं जिनका प्रभाव परवर्ती संहिताकारों और ब्राह्मणों आदि पर पड़ा जिन्होंने अग्नि, इन्द्र आदि को 'मखघ्न' कहा और जिनके कारण 'मख' को एक राक्षस मान लिया गया, यद्यपि वास्तविकता यह भी थी कि इस नाम का कोई राक्षस नहीं था; अपितु यह केवल एक त्रुटिपूर्ण अर्थ के विकास का परिणाम था। यदि वहीं पर इसके अर्थ का निर्धारण हो गया होता तो देवशास्त्र में कहीं भी 'मख' नाम का कोई देवशत्रु' या 'राक्षस' न उत्पन्न होता।

अब हम 'मख-' शब्द से निःसृत नामधातुओं पर विचार करेंगे। ऋ० में ऐसे तीन रूप हैं जो 'मख-' से नामधातु के रूप में प्रयुक्त हैं; वे ये हैं (१) मखस्यते (९, १०१, ५), (२) मखस्यन् (३, ३१, ७) और (३) मखस्यसे' (९, ६१, २७)। वाचस्पति सोम के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'मख' के रूप में आचरण करता है:—

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन्।

वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा॥ ऋ० ९, १०१, ५।

"देवताओं ने कहा कि इन्दु (सोम) इन्द्र के लिये प्रवाहित हो या क्षरण करे। तब समस्त (शक्तियों का) स्वामी वाचस्पति ओज से वीरता का आचरण करने लगा।"[८०]

प्रस्तुत मंत्र में 'वाचस्पति' सोम के लिये आया है। अन्यत्र भी सोम को वाचस्पति, और वाणी को प्रेरित करने वाला कहा गया हैं।[८१] 'ओजसा' पद से सोम के शक्तिशाली होने का प्रमाण मिलता है। साथ ही वह समस्त सृष्टि पर प्रभुत्व रखने वाला है। ऐसी स्थिति में 'मखस्यते' का अर्थ 'शक्ति प्रदर्शित करता है' करना उपयुक्त होगा। इसी सन्दर्भ में अन्यत्र भी सोम को कहा गया हैं कि जब उसका अभिषव होता है तो वह शक्ति का प्रदर्शन करता है:—

न त्वा शतं चन ह्रुतो राधो दित्सन्तमा मिनन्।

यत्पुनानो मखस्यसे॥ ऋ० ९, ६१, २७

---

८०. सायण के अनुसार इस मंत्र का अर्थ "सोम इन्द्र के लिये क्षरित होता है, ऐसा स्तोता कहता हैं; तब सब का स्वामी, बल से स्तुतियों का स्वामी सोम पूजा की कामना करता हैं"—है। किन्तु 'देवासः' को 'स्तोतागण' मानने और 'मखस्यते' को 'पूजा की इच्छा करने अर्थ में ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

८१. ऋ० ९, २६, ४; ५० २; ६७, ३४.

"जब तुम दान करने की कामना करते हो तो तुम्हें सैकड़ों रुकावटें भी नहीं हतोत्साह कर सकतीं। जब अभिषव किये जाते हुए तुम किसी योद्धा के समान आचरण करते हो।"

इसी प्रकार एक नामधातु (शतृरूप) का प्रयोग मरुतों के साथ भी हुआ है :—

ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन्। ऋ० ३, ३१, ७

"वीर देवता ने अपने युवक साथियों के साथ युद्ध करते हुये विजय प्राप्त की (गायों को जीता) और तुरन्त ही अंगिराओं ने गान करना प्रारम्भ किया।"

यहाँ सायण ने 'मखस्यन्' का अर्थ 'गोधनमङ्गिरसामिच्छन्' (अङ्गिराओं के लिये गोधन की इच्छा करते हुए) किया है; किन्तु गायों की जहाँ भी चर्चा है उन्हें इन्द्र ने अङ्गिराओं की सहायता से युद्ध करते हुए ही जीता है।[८२] अतः यहाँ 'मखस्यन्' का अर्थ 'शक्ति दिखलाते हुए' या 'युद्ध करते हुए' ही होगा।

'मखस्' से क्यच् तथा 'उ' प्रत्यय करके धातुज विशेषण 'मखस्यु' निष्पन्न किया गया है जिसका प्रयोग ऋग्वेद में तीन स्थलों पर हुआ है।[८३] एक स्थान पर यह कहा गया है कि सोमप्रसव के समय 'मख' की कामना वाली तीनों वाणियाँ उद्गीर्ण होती हैं :—

प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः। यदव्य एषि सानवि ऋ० ९, ५०, २

"हे सोम! जब तुम उच्च पवित्र में गमन करते हो उस समय प्रसवकाल में तीनों मखस्यु वाणियाँ उद्गीर्ण होती हैं।"

उपर्युक्त मन्त्र में 'तिस्रः वाचः' का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से ऋक्, सामन् और यजुस् से है। 'मखस्युवः' पद इन्हीं के विशेषण रूप में है। 'मखस्यु' की निष्पत्ति, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है 'मखस्य' से 'उ' प्रत्यय करके हुई है। ऋ० में इसी प्रकार की अन्य नामधातुएँ 'वचस्यति',[८४] अपस्यति[८५] आदि हैं तथा 'मखस्यु' के समान 'द्रविणस्यु'[८६]

---

८२. ऋ० १, १०८, ४; १३०, ३; २, १५, ८; ६, १८, ५; १०, ६२, २; ७.

८३. ऋ० ९, ५०, २; ६४, १०; ७३, ७.

८४. ऋ० १, ५५, ४; ९, ९९, ६.

८५. ऋ० १, १२१, ७; १०, ८९, २,

८६. ऋ० [illegible]

'अदस्यु',[८७] अदस्यु,[८८] वचस्यु[८९] आदि शब्द हैं जो नामधातुओं से निष्पन्न होकर विशेषण का कार्य करते हैं। 'मखस्य' को 'मखय' होना चाहिये था। उसमें 'स्' का योग केवल 'वचस्य' आदि की समानता (analogy) के कारण हुआ है। 'मखस्यु' का प्रयोग सोममण्डल में 'वाक्' के विशेषण रूप में ही सर्वत्र है जो सोममण्डल के ऋषियों की विशेषता है जिसे वे सोम के लिये चाहते हैं। 'वाचस्पतिर्मखस्यते' (९, १०१, ५) से स्पष्ट है कि सोम जो, वाणी का स्वामी है, एक वीर पुरुष के रूप में आचरण करता है। यह बात 'यत्पुनानो मखस्यते' (९, ६१, २७) से और स्पष्ट हो जाती है कि सोम अपने शुद्धीकरण के समय एक योद्धा के रूप में आचरण करता है। 'वाच्' (यदि इसे नारी-रूपा स्वीकार कर लें) के सन्दर्भ में 'मखस्यु' का अर्थ होगा—'वह जो वीर सोम की कामना करती हैं'; उस सोम की जो एक स्थान पर 'मखस्यु वाच्' को लाने के लिये स्तुत्य है।[९०] वहीं पर यह भी कहा गया है कि सोम 'वाच्' को उद्गीर्ण करता है। (पुनानो वाचमिष्यसि—९, ६४, २५)। 'मखस्य' नामधातु इस प्रकार 'युद्ध करने' या वीरोचित व्यवहार करने' में—प्रयुक्त है जबकि वह 'पुरुष' से (जैसे सोम, इन्द्र या इन्द्र के शत्रु नमुचि जिसके सम्बन्ध में— 'त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युम्' १०, ७३, ७ कहा गया हैं) सम्बन्धित हो; किन्तु 'वाच्' के सम्बन्ध में इसका अर्थ केवल यह है कि 'वाणी ऐसे पुरुष की कामना करती है।' ग्रासमान[९१] ने इस सन्दर्भ में मखस्यु का अर्थ 'विजयोल्लास की ललकार' या 'विजय की ध्वनि या शोर' दिया है, किन्तु वह शब्द के निश्चित अर्थ से दूर चले गये हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में (९, ५०, १, २) 'पवि' आदि द्वारा केवल सोमाभिषव के समय का शक्तिपूर्ण गान उपस्थित करना है।[९२]

उपर्युक्त सन्दर्भ में ही 'मखस्युवम्' जो वाच् का विशेषण है,[९३] की व्याख्या करनी चाहिये। साथ ही 'मखस्युम्' जो नमुचि के साथ प्रयुक्त है,[९४] की व्याख्या 'जो योद्धा का आचरण करता है' के रूप में करनी चाहिये।

---

८७. ऋ० १, २९, १६; ३, ३३, ५; ४; १६, ११; ५, ३१, १०; ७५, ८; ७, ३२, १७; ८, १३, ६; ६, ४३, २.

८८. ऋ० १; ७९, १, ६, २, ७; ३८, ३; ५६, २; ७६, २; १०, ११, ३; १,

८९. ऋ० २, १६, ७; ५, १४, ५.

९०. ऋ० ९, ६४, २६.

९१. Woerterbuch, 971.

९२. S. S. Bhave, Soma Hymns, II, P. 110 f.

९३. ऋ० ९, ६४, २६.

९४. ऋ० १०, ७, ३७.

ऋ० में 'मख' के साथ प्रयुक्त कुछ सामासिक पद हैं जो ये हैं :—'जारयन्मखः' (१०, १७२, २); 'सद्ममखसम्' (१, १८, ६) और 'अदुःमखस्य' (८, ७५, १४,) इनमें प्रथम 'उषा काल' से सम्बन्धित प्रतीत होता है :—

ए॒ आ या॑हि॒ वस्व्या॑ धि॒या मंहि॑ष्ठो जार॒यन्म॑खः सु॒दानु॑भिः ।

"हे महानतम और शक्तिशालियों का विनाश करने वाले ! अपने सुन्दर दाताओं के साथ प्रशस्तबुद्धियुक्त होकर आगमन करो ।"

प्रस्तुत मंत्र में 'जारयन्मखः' को सायण ने 'उषाकाल' का विशेषण माना है, किन्तु उषा के साथ इसकी कोई संगति नहीं प्रतीत होती । मंत्र में 'मंहिष्ठ' पद इस बात की ओर इंगित करता है कि या तो इसे सूर्य से या इन्द्र से या सोम से सम्बन्धित होना चाहिये क्योंकि 'मख' और 'मंहिष्ठ' पदों का इनसे अधिक साम्य है जैसा कि ऊपर के समस्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है । अतः यहाँ 'वस्व्या धिया' को यदि उषस् के लिये प्रयुक्त मान लें और 'जारयन्मखः' को सूर्य के लिये तो अर्थ की दृष्टि से कठिनाई नहीं होगी । क्योंकि हम 'जारयन्' को 'जार'—संज्ञा से नामधातु रूप में ग्रहण कर सकते हैं, और इस प्रकार यह अनुमान कर सकते हैं कि 'जारयन्' सूर्य से सम्बन्धित हैं क्योंकि उसे ही 'उषा' का 'जार' कहा गया है[९५], साथ ही मंत्र में 'वस्व्या' पद भी जो केवल यहीं पर प्रयुक्त है, इस बात का द्योतक प्रतीत होता है कि यह 'उषस्' के लिए है, जिसे अन्यत्र' 'वस्वी' कहा गया है ।[९६]

दूसरा सामासिक पद 'सद्ममखसम्' है जो नराशंस के साथ आया है: —

नरा॒शंसं॑ सु॒धृष्ट॑म॒मप॑श्यं स॒प्रथ॑स्तमम् । दि॒वो न सद्म॑मखसम् ॥

"मैंने अत्यन्त बलशाली, प्रख्याततम और द्युलोक के समान प्राप्त तेज वाले नराशंस का दर्शन किया ।"

'मख' शब्द का 'मखसम्' ('मखस्' का द्वि० ए० व०) रूप ऋ० में केवल यहीं पर आया है । रूप संभवतः 'नराशंसम्' के साम्य के आधार पर यहाँ निष्पन्न किया गया । अन्यथा हमें 'मखस्' जैसी भाववाचक संज्ञा का विचार करना होगा और इस प्रकार हम इस सिद्धान्त के आधार पर कि 'अस्' में अन्त होने वाली सभी इण्डो० यूरो० भाववाचक संज्ञाएं 'शक्ति' या 'बल' अर्थ में हैं,[९७] इसे भी यहाँ इसी अर्थ में ग्रहण करना होगा । यदि हम इसका अर्थ यहाँ इस प्रकार करते हैं तो प्रस्तुत मंत्र में 'दिव' का अर्थ हमें 'द्युलोक' नहीं अपितु 'सूर्य' करना चाहिये और इस स्थिति में मंत्र का अर्थ इस प्रकार होगा :—

---

९५. ऋ० १, ६६, ५; १५२, ४; ६, ५५, ४; ७, ७६, ३.

९६. ऋ० ६, ६४, १,

९७. J. Gonda, 'Ancient Indian ojas etc., Utrecht, 1952.

"मैंने अत्यन्त बलशाली, प्रख्याततम, सूर्य के समान शक्ति वाले (तेज वाले, सायण) का दर्शन किया।"

तीसरा सामासिक पद 'अदुः मखस्य (८,७५,१४) है जो किसी स्तोता के साथ आया है:—

यः याजुषन्नमस्विन : शमीमदुर्मखस्य वा । तं घेदग्निर्वृधावति ॥

"जिस नमस्कार युक्त, सुन्दर बल वाले के परिश्रम का सेवन किया है अग्नि उसकी विशेष रूप से रक्षा करता है।"

प्रस्तुत मंत्र में 'अदुर्मखस्य' का सायण ने अदुष्टयागवाला' अर्थ किया है और 'शमीम्' का अर्थ 'कर्म' किया है। किन्तु अन्यत्र भी इन्हीं सन्दर्भों में इसका अर्थ 'परिश्रम के साथ सम्बन्धित है [९८] जिसको ध्यान में रखकर ही यहां पर भी 'बल वाले का परिश्रम' अर्थ किया गया है। साथ ही 'अवति' क्रियापद भी इस बात का द्योतक है कि रक्षा का प्रश्न नहीं उठता है जहां कोई व्याघात या आशंका हो, और यह युद्धादिकर्मों में ही संभव है; अतः 'अदुर्मखस्य' यहाँ 'युद्धविद्या में कौशल' 'सुमख' के रूप में 'योद्धा' अर्थ में ही है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं की ऋ० में 'मख' का अर्थ कहीं भी 'यज्ञ' या 'धन' से सम्बन्धित नहीं है; अपितु यह 'शक्तिशाली' 'योद्धा', 'वीर' आदि अर्थों का द्योतक है और सर्वत्र इन्हीं अर्थों में ग्रहण किया जाना चाहिये।

ऋ० के ही कुछ मंत्र अन्य संहिताओं में भी आये हैं जहां पर 'मख' शब्द का अर्थ वैसा ही करना चाहिये जैसा कि ऋ० के मंत्रों में उपर्युक्त विवेचन के साथ किया गया हैं। यहां पर उन सभी मंत्रों को अंशतः उद्धृत किया जा रहा है जो अन्य संहिताओं में ऋ० से लिये गये है।

१. अनवद्यैरभिद्युभिर्मख— ऋ० १, ६, ८; अथर्व २०, ४०, २; ७०, ४;
२. मखस्य ते तविषस्य प्रजूतिमियर्मि—ऋ० ३, ३४, २; अथर्व० २०, ११. २;
३. प्रचित्रमर्कं गृणते तुराय—मखेभ्यः ऋ० ६, ६६, ६; तै० सं० ४, १, ११, ३, मै० सं० १०, ३; १७०, ८; ४, १४, ११; २२३, ४; काठ० सं २०, १५, तै० ब्रा २, ८; ५, ५; आश्व० श्रौ० सू० २, १६, ११; ३, ७, १२.

९८. ऋ० १, ८३, ४; ५, ४२, १०; ८४, २.

४. आ नो वायो—मखाय पाजसे—ऋ० ८, ४६, २५, मै० सं०, १४, २; २१६, १३; ए० ब्रा० ५, ६, ७; आश्व० श्रौ० सू० ७, १२, ७.
५. क्रीलुर्मखो न मंहयुः —ऋ० ६, २०, ७; सामवे० २, ३२४ (कौथुम) .९९
६. प्रसवे त उदीरते—मखस्युव —ऋ० ६, ५०, २; सा० वे (कौ०) २, ११६, १००
७. नत्वा शतंचन – मखस्यसे-ऋ० ९, ६१, २७; सा० वे० (कौ०) २, २६, २, १०१
८. प्रसुन्वानान्धसो —मखं म मृगवः—ऋ० ९, १०१, १३; सा० वे० (कौ०) १, ५५३, १०२
९. इन्दुरिन्द्राय पवते —वाचस्पतिर्मखस्यते-ऋ० ९, १०१, ५; सा० वे० (कौ०) २, २२२, १०३ अथर्व २०, १३७, ४.
१०. उदीरय पितर जार आभगं —मखःतविष्यते —१०, ११, ६; अथर्व १८, १, २३.

यद्यपि उपयुक्त सभी उद्धरण ऋ० के ही हैं जो अन्य संहिताओं में मिलते हैं, किन्तु अन्य संहिताओं ने उन्हें विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ग्रहण किया है और अपने उद्देश्यपूर्ति के साथ उनमें आये 'मख' शब्द की भी अपने ढंग से व्याख्या की है। इनमें सामवेद और अथर्ववेद की संहिताओ में तो इनकी कोई व्याख्या नहीं की गई है क्योंकि उनमें तो केवल मंत्रों का सकलन है, किन्तु यजुर्वेद संहिताएं जो विनियोगप्रधान हैं, इसकी व्याख्या देती चलती है। उन संहिताओं में इन मंत्रों के अतिरिक्त जहां 'मख' शब्द आया है उसे वे 'यज्ञ' का ही पर्याय मानते हैं। तै० सं० अग्नि को 'मखघ्न' कहती हैः—

नमोऽग्नय मखघ्ने मखस्य मा यशोऽर्यादित्याहु वनीयमुपतिष्ठते यज्ञो वै मखः ।[१०४]

"हे मख के हनन कर्ता अग्नि तुम्हें नमस्कार है। मख या मेरी ओर प्रेरित हो (इन शब्दों के साथ) अध्वर्यु आहवनीय का सम्मान करता है। मख यज्ञ ही है (अन्य कुछ नहीं)"।

---

९९. प्रस्तुत मंत्र का 'कील्रुर्मखो' अंश सा० वे० की जैमिनीय शाखा (३, २६, १०) में 'कीड़ुर्मघो' पाठभेद सहित प्राप्त है जो स्पष्ट ही 'मख' को 'मघ' का रूप मान लेने के कारण हुआ है।

१००. सा० (जै०) ३, ४४, २.

१०१. वहीं ३, ४४१०.

१०२. वहीं १, ५६, ६.

१०३. वहीं ३, २०, ७.

१०४. तै० सं० ५, १, १.

प्रस्तुत सन्दर्भ में अग्नि को 'मखघ्न' कहा गया जिसका कारण परम्परया ऋ० के एक मंत्र (९,१०१,३) की त्रुटिपूर्ण व्याख्या ही प्रतीत होती है जैसा कि उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है। यदि 'मख' कोई राक्षस होता तो फिर 'मख के यश को मुझे प्रेरित करो' जैसी प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता थी। यश तो उसी के पास हो सकता है जो शक्ति, बल अथवा गुणों से सम्पन्न हो। अतः यहाँ संहिता-कारों की भाँति ही 'मख' को देवताओं से भिन्न मान लिया गया है।

इसी संहिता में दूसरे स्थलों पर 'अग्नि को 'मख' का 'शिर' माना गया है जो अन्य संहिताओं और ब्राह्मणों तथा सूत्रग्रथों में भी प्राप्त है।[१०५] यदि 'मख' अग्नि का ही शिर है तो वह अपने 'शिर' का हनन क्यों करेगा। साथ ही यदि 'मख' को यज्ञ के साथ ही समीकृत करना है तो अग्नि या इन्द्र जो 'यज्ञ' की कामना करते हैं उसके हननकर्ता कैसे हो सकते हैं। अतः एक ओर 'मखघ्न' कहना और दूसरी ओर 'मख', का इच्छुक कहना केवल भ्रांति ही उत्पन्न करते हैं, अन्य कुछ नहीं।

मै० सं० और वाज० मा० सं० में 'उखा' को 'मख' के साथ समीकृत किया गया है :—

'उखां कृणोतु शक्त्या—मखस्य शिरोऽसि, वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस्वदुखे [१०६]

(हे अदिति) शक्ति से उखा का निम ण करो। हे उखे, तुम मख का शिर हो, तुम्हें वसुगण निर्मित करें तथा अंगिरस तुम्हें गायत्री छन्द के द्वारा निर्मित करें।,

दूसरे स्थान पर इसी संदर्भ में कहा गया है :—

'वसवस्त्वाधूप्न्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वदुखे, रुद्रास्त्वा धून्दन्तु त्रैष्टुभेन।[१०७]

"हे अङ्गिरस्वद् उखे! तुम्हें वसुगण गायत्री छन्द से प्रकाशित करें (या जलायें), रुद्र तुम्हें त्रिष्टुभ् छन्द से प्रकाशित करें।"

इस अंश में 'धूप्न्दन्तु' क्रियापद के साथ इस अर्थ का द्योतन होता है कि 'उखा' अग्नि में सेंका (अग्नि में तपाया) जाता है, उसी समय यह संभावना हो सकती है कि

---

१०५. मखस्य शिरोऽसि—वा० सं० ११, ५७, ३७, ८; तै० सं० १, १, ८, १; १२, १; ४, १, ५, ३; मै० सं० २, ७, ६; ८०, १३; ३, १, ७; ८, १६; ४, १, ६; ११, ५; ४,९, १; १२, १, ७; का० सं० १, ८; १६, ५; १९ ६; ३१, ७; श० ब्रा० ६, ५, २, १; २, तै० ब्रा० ३, २, ८, ३; ३, ७; ११; तै० आ० ४, २, ५; ५, ३, २; आप० श्रौत सू० १, २४, ५; २, १४, १२; १५, २, १४, १६; ४, ४; मानव श्रौ० सू० १, २, ३, १६; ४, १, १५; ६, १, २.

१०६. मै० सं० २, ७, ६; वा० सं० ११; ५७.

१०७. मै० सं० २, ७, ७–८.

अग्नि इस उखा का हनन करने वाला भी मान लिया गया हो और अन्ततः उसका नाम 'मखघ्न' पड़ गया हो। चाहे जो कुछ भी हो पर यह निश्चित है कि यजुर्वेद की संहिताओं तक आते-आते 'मख' का मूल अर्थ विलुप्त हो चुका था और उसे 'मख' के साम्य पर 'यज्ञ' का पर्याय माना जा चुका था जो अर्थ परवर्ती साहित्य में प्रबल हो गया। किन्तु इसके साथ ही उन्होंने अग्नि आदि देवताओं को 'मखघ्न' कहकर एक देवशास्त्रीय व्यक्तित्व की कल्पना को साकार रूप दिया। तभी तो मै० सं० कहती है :—

"देवा वै सत्रमासत कुरुक्षेत्रे, अग्निर्मखो वायुरिन्द्रस्तेऽब्रुवन्, यतमो नः प्रथम ऋध्नवत् तं नः सहेति, तेषां वै मख आर्ध्नोत तं न्यकामयन्, तं न समसृजते, तदस्य प्रोसहादित्सन्त, स इत एवं निलोऽजनयतेऽ तो धनुर्नतिसृणां च धन्वनश्च जन्म, स प्रतिधायापाक्रामत् तं नाभ्यधृष्णुवत्, स धन्वार्ति प्रसिरकायातिष्ठत्, स इन्द्रो वम्रीरब्रवीदेतां ज्यामप्यत्येति, ता अब्रुवन्नभिमृतायां वा अस्या न शक्ष्यामो जीवितुं भागो नोऽस्त्विति सोऽब्रवीद्, रसमेवास्या उपजीवाथ" (मै० सं० ४, ५, ६)

प्रस्तुत उद्धरण में 'मख' के सम्बन्ध में ये बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) मख इन्द्र, अग्नि और वायु के साथ देवता है; (२) उसे धन्वी कहा गया है; (३) वह देवताओं को समृद्ध या आह्लादित करता है; (४) उसके शिर को इन्द्र ने काटा; (५) उसे सम्राट् कहा गया है और (६) सभी देवताओं ने उसके एक एक अंग को विभाजित कर ग्रहण किया। इन समस्त बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सारी बातें सोम के साथ तादात्म्य रखती हैं जिसके सम्बन्ध में इसी उद्धरण के पूर्व मैत्रायणी संहिता में कहा गया है कि सोम का अभिषव किया गया है और देवताओं ने उसके भाग की याचना की—'सोऽब्रवीद् भागो मेऽस्त्विति, वृणीष्वेत्यब्रुवन्त्सोऽब्रवीत्, नहैव नौ पयसा सोमं श्रीणानिति।"[१०८] साथ ही उपर्युक्त समस्त गुण सोम के साथ ऋ० में भी कहे गये हैं,[१०९] अतः इस देवशास्त्रीय विवेचन के पीछे संहिताकारों के मन में केवल परीक्षा रूप से सोम को उपस्थित करने की भावना थी जिसे उन्होंने अपनी कल्पना का आवरण देकर देवशास्त्रीय व्यक्ति का निर्माण किया। इसी कथा को कुछ मोड़ देकर, श० ब्रा० ताण्ड्य महाब्राह्मण और तै० आ० में भी दुहराया गया है जहाँ पर 'मख' को प्रवर्ग्य के साथ सम्बन्धित कर उसे यज्ञ का पर्याय माना गया है।[११०]

मख सम्बन्धी श० ब्रा० के दो स्थल विचारणीय हैं। एक स्थान पर 'मख' का सूर्य के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है।[१११]

---

१०८. मै० सं० ४, ५, ८.
१०९. ऋ० ९, ७७, ५; ९५, ४; ९०, ३; ७६, २; ८५, ३.
११०. श० ब्रा० १४, १, १, १-३; ता० म० ब्रा० ७, ५, ७, तै० आ० १, ५, २.
१११. श० ब्रा० १४, १, १, १३.

"मखाय त्वा" एष वै मखः । य एष तपति ।"[112]

इससे स्पष्ट है कि 'मख' के अर्थ पर इस काल में पूर्ण सन्देह बना हुआ था । दूसरे स्थान पर 'मख' को 'मघ' का ही रूप मानकर कहा गया है :—

"स उ ऽ एव मखः । स विष्णुः । तत इन्द्रो मखवानभवत् । मखवान् ह वै । तं मघवानमित्याचक्षते परोक्षम् परोक्षकामा हि देवाः ।[113]

"वह (रस) ही मख हैं । वह विष्णु है । उससे इन्द्र मखवान् हुए । वह मखवान् ही जिसे परोक्षरूप में मघवान् कहा जाता है क्योंकि देव परोक्षप्रिय हैं ।"

प्रस्तुत सन्दर्भ में ही इस उद्धरण के पूर्व यह कहा गया है कि आदित्य से प्रवर्ग्य की निष्पत्ति हुई जिससे रस का क्षरण हुआ और उस रस को देवताओं ने सम्मार्जित किया जिसके कारण उसे सम्राट् कहते हैं ।[114] इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट रूप से सोमरस की प्रशंसा मात्र है । इसी सोम रस को 'मख'-कहा गया जिसे प्राप्त कर इन्द्र 'मखवान्' बन गये । 'मख'-सोम का विशिष्ट विशेषण है. इस बात को उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है । इसी मख रूपी सोम को ग्रहण करने के कारण इन्द्र 'मखवान्' या योद्धा या वीर बने । यहाँ पर 'मखवान्' को स्पष्ट करने के लिये ब्राह्मणकारों ने 'मघवान्' शब्द का साम्य इसके साथ स्थापित किया, और यह तादात्म्य उन्होंने ऋ० में इन्द्र को 'मघवान्'[115] कहे जाने के आधार पर ही किया होगा । किन्तु इतना स्पष्ट है कि यह साम्य केवल इसलिये स्थापित किया गया कि ब्राह्मणकारों को 'मखवान्' या मख'-शब्द का सही अर्थ ज्ञात नहीं था । किन्तु 'मखवान्' का यहाँ सीधा अर्थ 'शक्तिशाली योद्धा' ही है, अन्य नहीं ।

इस प्रकार ब्राह्मणों में भी मख का हम वही अर्थ कर सकते हैं जो संहिताओं में किया जा सकता है जहाँ तक वेदाङ्गों में इसके प्रयोग का प्रश्न है वह केवल मंत्र प्रतीकों तक सीमित है । उदाहणार्थ —'सूर्यस्य हरसा श्रायेत्युत्तरतः सिकतासु प्रतिष्ठाप्य मखोऽसीत्यनुवीक्षते" ।[116] इस अंश में 'मखोऽसि' अंश मन्त्र-प्रतीक है जिसे 'महावीर' नामक पात्रविशेष के प्रति सम्बोधित किया गया है जिसमें सोम रस भरा रहता है । इससे स्पष्ट होता है कि 'महावीर' पात्रविशेष सोम का प्रतीक है और 'महावीर' पात्र का नाम भी संभवतः इसीलिये पड़ा होगा कि उसमें सोम भरा रहता है जिसे 'मख' कहा गया है और जो उस 'मख' के कारण 'महावीर' अर्थ का द्योतक है । अतः यहाँ

११२. सायण ने इसे 'एष वै खलु सूर्यः मखः' रूप में व्याख्ययित किया है ।

११३. श० ब्रा० १४, २, १, १३ ।

११४. वहीं, १४, १, १, १०, ११ ।

११५. ऋ० ३, ३०, २२, ३१, २२, ५२, ६७ इत्यादि ।

११६. आप० श्रौ० सू० १५, ३, ७ ।

पर 'महावीर' पात्र के नाम के इतिहास पर भी एक झीनी सी झलक दृष्टिगोचर होती है जिसे अभी तक स्पष्ट नहीं किया गया है। इस लेख में स्थानभय के कारण इस प्रश्न पर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि 'महावीर' का नाम 'मख' के अर्थ को प्रकाशित करने में सहायक है और दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। इसी प्रकार दूसरे स्थानों पर भी मख का प्रयोग सूत्र-साहित्य में मंत्र प्रतीकों पर ही आधारित है। कात्यायन श्रौ० सू०,[११७] आप० श्रौ० सू०,[११८] बौ० श्रौ० सू०,[११९] पारस्कार गृ० सू०,[१२०] कौशिक गृ० सू०,[१२१] शांखायन गृ० सू०,[१२२] ऋ० प्रा०[१२३] आदि वेदाङ्गों में 'मख' का प्रयोग मंत्र प्रतीकों के माध्यम से ही हुआ है और उन स्थानों पर 'मखः' का अर्थ उपर्युक्त विवेचन के आधार पर किया जा सकता है।

किन्तु इसके साथ ही हमें इस बात को भी स्वीकार करना होगा कि इस काल तक 'मख'-का प्रयोग 'यज्ञ' अर्थ में स्पष्टतया होने लगा था जैसा कि वृहद्देवता[१२४] के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट होता है :—

लोकोऽयं यश्च वै प्रातः सवनं क्रियते मखे।
वसन्तशरदौ चतुं स्तोमोऽनुष्टुप्यो त्रिवृत् ॥

"यह और का लोक प्रातःकाल न सोम-सवन, जो यज्ञ में किया जाता है, वसन्त और शरद् ऋतुएँ, अनुष्टुप् छन्द तथा त्रिवृत् स्तोम (सभी अग्नि स्थान में निहित हैं)।

केवल इतना ही नहीं, परवर्ती साहित्य में तो 'मख' के अनेक उदाहरण मिलेंगे जहां इसे यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[१२५] अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक साहित्य में 'मख' शब्द जहाँ शक्ति, वीरता आदि का द्योतक है, वहीं परवर्ती साहित्य में यह 'यज्ञ, का पर्याय भी है। इसलिये हमें इसका अर्थ भी इन्हीं दोनों सन्दर्भों को ध्यान में रखकर करना चाहिये।

———

११७. काव्त्या० श्रौ० सू० १६, ३, २२; २६, १, १८; १२; १४; १६।
११८. आप० श्रौ० सू० १२, २०, ३,।
११९. बौधायन श्रौ० सू०।
१२०. पारस्कर गृ० सू० ५, २, २४।
१२१. कौ० गृ० सू० १, १६, ७।
१२२. शां० गृ सू० १, २४, ४।
१२३. ऋग्वेद प्रतिशाख्य ७, ५४।
१२४. वृहद्देवता १, ११५।
१२५. अग्निष्टोमादिकान्मखान्-मनुस्मृति २, १४३, ४, २४, सौमिकैर्मखैः—मनु० ४, २६, द्रुपदस्य महामखे—महाभा० १, ६३२३; १३; ३३२; ३ ११७०१, १५५२७, मखैर्विपुल दक्षिणैः—महाभा० १३. १०६७, विप्राः सोम मखे स्थिताः—हरि० पु० २४५७' १२२२३, अकिञ्चनत्वं मखम्—रघु० ५, १६, सोऽपी-ऽहस्ताक्रोमखम्—भाग० पु० ६, १३, २ इत्यादि।

ऋग्वैदिक 'वृजन' और अवेस्तन 'वॅरॅज़ान'

ऋग्वेद में 'वृजन' शब्द के विभिन्न रूपों का प्रयोग अनेक बार हुआ है। इसी के समान 'वॅरॅज़ॅन' तथा 'वॅरॅज़ान' शब्दों का प्रयोग अवेस्ता में क्रमशः गाथाओं और अवान्तरकालीन अवेस्ता-साहित्य में हुआ है। प्राचीन भारतीय-ईरानी संस्कृतियों के नैकट्य के कारण इनका अर्थ साम्य संभव है। वैसे अब तक अनेक व्याख्याकारों ने दोनों भाषाओं में इनके विभिन्न अर्थ किये हैं; किन्तु अर्थ-विस्तार की सीमा के अन्तर्गत इन शब्दों के अर्थ में किस सीमा तक साम्य सम्भव है—इस बात का परीक्षण करना आवश्यक प्रतीत होता है; किस सन्दर्भ में कौन सा अर्थ सम्भव होगा, इसका निश्चय करना भी सोद्देश्य होगा।

सर्वप्रथम यह उचित होगा कि प्राचीनकाल से चली आ रही अब तक की समस्त व्याख्याओं पर एक दृष्टिपात कर लें। सर्वप्रथम निघण्टु[1] में इसका संकलन 'बल' के पर्याय रूप में प्राप्त होता है। उद्गीथ[2] ने 'संग्राम', और वेंकटमाधव[3] ने 'बल', 'यज्ञ', 'संग्राम' आदि अर्थों को ग्रहण किया है। सायण[4] ने इसके 'बल', 'संग्राम', 'उपद्रव', अरिष्ट', 'यज्ञ' आदि अनेक अर्थ माने हैं।

पाश्चात्य व्याख्याकारों में रोठ[5] ने इसे 'वर्ज्' धातु से निष्पन्न मानकर इसके 'संग्राम' या 'उपद्र' (umgehung), 'बाड़ा' (umfriedigter) तथा शक्ति समन्वित स्थान' (befertigter) अर्थ दिये हैं। ग्रासमान[6] ने इसे 'वृज्' धा०—'प्राप्त

१. निघण्टु ३, ७।

२. ऋग्वेद भाष्य १०, २७, ४, (विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९३५)।

३. ऋगर्थदीपिका-सम्बन्धित सन्दर्भ (डॉ० लक्ष्मण सरूप द्वारा सम्पा०, लाहौर, १९३२-५५)।

४. ऋ० भा० १, १६५, १५; ५, ४८, १; ६, २७, २; १, १७६, १ आदि।

5. Sans, Woerterl uch pt. vi. P. 1312

6. Woert. zum RV, Wiesbaden 1955; pp. 1326-1329.

करना, खोजना, प्रकाशित करना' (herausbringen) —से निष्पन्न मानकर इसके मूल अर्थ—'बाहर लाने वाला' या 'खोलने वाला' (umschlossener) और 'रक्षित स्थान या बाड़ा' (umhegter pla'z)—किये हैं। साथ ही इसके अर्थ – विस्तार में 'यज्ञ-स्थान' (opferhof, opferstiaete) 'ग्राम्य-स्थान' (ortschaft), 'गोष्ठ' (umschlossen), 'संघ' (Gemeinde) आदि अर्थों का संकलन भी किया है। 'वृजन' का साम्य उन्होंने ग्रीक शब्द eirghu के साथ स्थापित किया है, जिसका अर्थ—'कारागार', 'पिंजड़ा', 'बाड़ा' आदि होगा।[७]ओल्डेनबर्ग ने इसका अर्थ 'बाड़ा' (enclosure) या कोई 'घिरा स्थान' (Fanznetz) किया है।[८] मैक्स म्यूलर ने 'वृजन' (नपुं०) का अर्थ 'बाड़ा' या 'घिरा स्थान' तथा 'पु० वृजन' का अर्थ 'शक्ति सम्पन्न' और 'शक्ति दायक' माना है।[९]

गेल्डनर के अनुसार इसका मूल अर्थ 'बाड़ा' (Umfriedgung) है और यह 'वर्ज्' धा० से निष्पन्न है।[१०] साथ ही अर्थ विस्तार को ध्यान में रखते हुये उन्होंने इसके अन्य अर्थ —'बाड़े से घिरा ग्राम' (Umfriedigten Dorf), 'यज्ञ' (Opfer) आदि में भी किये हैं।[११] उन्होंने इसे 'वृज', माया', 'स्त्री' आदि गूढ़ शब्दों की कोटि में रखा है।[१२] अवेस्तन 'वॅरॅज्ॅन' से इसकी तुलना करते हुये उन्होंने इसके अर्थ—ग्रामीण लोग, या 'ग्रामीण कृषक वर्ग' (Bauernschaft, Bauern-stand) किये हैं, जहाँ इसे 'वर्ज्' धा० (कार्य करना, निर्माण करना) से निष्पन्न किया है।[१३] 'वर्ज' धा० के अन्य अर्थ उन्होंने 'पकड़ना' (fangen, packen, fast halten), 'बाधित करना', रोकना', 'अवरोध करना' (abfangen, abhalten) आदि स्वीकार किये हैं।[१४]

कोलिनेट ने 'वृजन' का अर्थ 'शक्ति प्रवाह' (force) और 'उपद्रव' या 'हिंसा' (violence) किया है,[१५] जो सायण का अनुसरण मात्र प्रतीत होता है। पवाय

---

७. द्रष्टव्य, ग्रीक लेक्सिकोन (आक्सफोर्ड, १९३७), पृ० ४९० ।

८. SBE, 46I p. 193; Kritik Gottingische Gelehrte Anzeigen 1890, P. 410ff.

९. SBE. 32, p. 208.

१०. Vedische Studien I, p. 151-52.

११. Loc. cit.

१२. Loc. cit.

१३. Op. cit. II, p. 19.

१४. Op. cit. I, p. 152

१५. पवाय द्वारा उद्धृत, KZ (Kuhns Zeitschrift) Vol. 34, p. 250.

(W, Foy) ने इसका मुख्य अर्थ 'यज्ञ' किया है,[१६] किन्तु इस पर विचार करते समय उनका कथन है कि 'वृजन' और 'वृजिन' रूप में जो नपुं० शब्द प्राप्त होते है उनके अर्थों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है[१७]—

(१) 'धूर्तता' (Trug), 'चालाकी' (Raenke)—इसे 'वज्̐' धा० 'मोड़ना' (biegen) और 'मोड़ देना या धूर्तता करना' (krummen) अर्थों से निष्पन्न करने पर;

(२) 'बाड़ा' (huerde), 'रक्षा' (wehr), 'घिरा स्थान' (umfriedigkeit platz)—इसे 'वज्̐' धा० के 'अवरोध करना', 'रोकना' (hemmen) अर्थों से निष्पन्न करने पर;

(३) 'यज्ञ' या 'कर्म' (opfer, opferveranstaltung)—यह अवेस्तन 'वॅरॅज़ान' के समान है और इसे 'वज्̐' (कार्यकरना) धा० से निष्पन्न किया जा सकता है जिसे इण्डो-यूरो० धा० urey (कार्यकरना) से समन्वित माना जा सकता है।

वाकरनागेल डेब्रूनर ने 'वृजन' का तादात्म्य अवेस्तन 'वॅरॅज़ॅन', पह्लवी 'वरदन' और संस्कृत 'वर्धन' के साथ स्थापित करते हुये इसका अर्थ 'स्थान या नगर' (Stadt) किया है,[१८] किन्तु अन्यत्र 'समूह' या 'संघ' (Schar) अर्थ की परिकल्पना की है।[१९] उन्होंने 'बाड़ा' अर्थ पर सन्देह व्यक्त किया है।[२०] वैदिक 'वृजन्य' और अवेस्तन 'वॅरॅजॅन्य' का तादात्म्य स्थापित करते हुए उन्होंने इनका अर्थ क्रमशः 'ग्राम में रहते हुए' (in der ortschaft wohnend) और 'किसी जाति या संगठन से सम्बन्ध रखते हुए' (der Gemeinde angehoerig) किया है[२१]

अवेस्ता में गाथाओं में यह शब्द 'वॅरॅज़ान' (vərəzāna) या वॅरॅज़ॅना' (vərəzēna) रूप में प्राप्त है, किन्तु अवान्तर कालीन अंशों में (Younger Avesta) में यही 'वॅरॅज़ान' (verezāna) हो गया, जो धीरे-धीरे पह्लवी या 'मध्य परशियन' में 'वरदन' रूप में दृष्टिगोचर होता है जिसका तादात्म्य संस्कृत के 'वर्धन' के साथ स्थापित किया जा सकता है जो नवीन परशियन में 'वर्जन' रूप में।

१६. फ्वाय द्वारा उद्धृत, KZ, 34. p. 24.9.
१७. वही, पृ० १५३।
१८. Wack-Debr. Altind. Gramm, Band 2 (i) p. 187.
१९. वही, पृ० १९७; KZ 67 p. 168.
२०. Altind. Gramm. 2 (i) p. 386.
२१. वही, पृ० ८०६।

प्राप्त होता है। नपुं० 'वॅरॅजॅन' का अर्थ 'कार्य' या 'कार्यशीलता' (wirken, tatig-
keit) और स्त्री० में 'संघ' या 'जाति' (Gemeinde) अथवा 'संगठन' (Gemein-
schaft) माना जाता है[22]। इस पर प्रायः सभी विद्वानों में सहमति है, जैसा कि
उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

जहाँ तक दोनों भाषाओं में दोनों शब्दों की निष्पत्ति का प्रश्न है इन्हें 'वृज्' और
या 'वज्' और 'वरॅज्' से क्रमशः निष्पन्न कर सकते हैं। ऋ० में 'वृजिन' को 'वृज्' के
साथ 'इत्' प्रत्यय (उणादि सूत्र—२, ४५—४६, 'इन च', 'कित च', से निष्पन्न
करेंगे। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के आधार पर इन दोनों भाषाओं के इन दोनों शब्दों
तथा धातुओं का सम्बन्ध इण्डो-यूरो० तथा ग्रीक भाषाओं में प्राप्त धातुओं और शब्दों
से स्थापित कर सकते हैं। इण्डो-यूरो० धा० urez (कार्य करना)[23] या urey
(कार्य करना)[24] को अवेस्तन 'वरॅज्' (कार्य करना) के समानान्तर रख सकते हैं और
इसी आधार पर वैदिक धा० 'वृज्' या 'वर्ज का अर्थ 'वर्जन करने या घेरने' के साथ
'कार्य करना' भी मान सकते हैं। किन्तु ग्रीक (eirgo) (एइर्गो) का अर्थ—
'बन्द करना', 'घेरना', 'कारागार में डालना' आदि भी है और उसी से eigvghmo's
(एइर्घमोस) का अर्थ 'घेरा', 'पिंजड़ा', 'कारागार' आदि है। ग्रीक eirghu[25] की
तुलना अवेस्तन 'वॅरॅज्योन्' (उन्हें बन्द करना चाहिये) तथा 'वॅरॅज़न' या 'वॅरॅज़ान'
(घेरा), पह्लवी 'वरदन' (शहर या कस्बा) और संस्कृत 'व्रज' (गोष्ठ या घिरा स्थान)
आदि से कर सकते है। इस प्रकार इन धातुओं के मुख्य दो अर्थ प्रतीत होते हैं—(१)
कार्य करना, (२) घेरना; और इन धातुओं से निष्पन्न संज्ञा शब्दों के अर्थ—कार्य,
बाड़ा, नगर, कारागार, ग्राम, यज्ञस्थान आदि सम्भव हैं। इन्हीं अर्थों को ध्यान में
रखते हुए हम समस्त सन्दर्भों की व्याख्या करने का प्रयास कर रहे हैं।

'वृजन' शब्द का आद्युदात्त रूप 'वृजनम्' ऋ० में केवल एक बार आया है,
जहाँ उषा को 'वृजन' को जरित करते कहा गया है—

आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।

जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः॥

ऋ० १, ४८, ५।

---

२२. **Christian Barthlomae,** Altiran. woert. p. 1424 21

२३. द्रष्टव्य **KZ. 30 p. 24.**

२४. **op. cit. 34, p. 253.**

२५. **Grasmann, W**oert. zum RV. p. 1326

"सुन्दरी उषा प्रकर्ष रूप से यौवनयुक्त होती हुयी [२६] युवती स्त्री के समान गमन कर रही है। 'वृजन' (अन्धकार को नष्ट करती हुयी, पक्षियों को उड़ाती हुयी पद वाले प्राणियों के समान जा रही है"

यहाँ सायण ने 'वृजनम्' की व्याख्या 'गमन शीलं जङ्गमं प्राणिजातम्' की है। किन्तु 'जङ्गम प्राणिजात' को उषा 'जरा प्राप्त कराती' (जरां प्रापयन्ती) - यह बात तर्क संगत नहीं प्रतीत होती। अतः 'वृजनम्' के यहाँ दो ही अर्थ सम्भव हैं—(१) कार्य या (२) घेरा। प्रथम अर्थ 'जरयन्ती' के सन्दर्भ में संगत नही है, क्योंकि उषा तो लोगों को प्रेरणा देती, है कि 'प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम्' जैसा—ऋ० ४, ५१, ५ (द्विपाद और चतुष्पाद वाले सोते प्राणियों को संचरण के लिये प्रबुद्ध करती हुयी)—अंश से स्पष्ट है। इसी सूक्त के अन्य मन्त्र (ऋ० ४, ५१, ३) के 'व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीः'— अंश की यदि हम प्रस्तुत सन्दर्भ में 'जरयन्ती वृजनम्' के साथ तुलना करें तो अर्थ स्पष्ट हो जायगा। 'उषा' 'तम' बाड़े (वृजनम्) को जर्जरित करती है और प्रकाश लाती है, अथवा तम के वाड़े (व्रज) के द्वारों को खोलती है'—दोनों बातें एक ही भाव द्योतित करती हैं अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में 'वृजन' का अर्थ 'घेरा' या 'बाड़ा'—जो 'अन्धकार के घेरे' से सम्बन्धित है—मानना युक्ति-संगत होगा। गेल्डनर [२७] ने यहाँ वृजन' का अर्थ 'समूह' (Schar) किया है जो संगत नहीं प्रतीत होता।

मध्योदत्त 'वृजनम्' रूप ऋ० में ७ बार आवृत्त हुआ है [२८] जिनमें अधिकांश एक मन्त्रांश की पुनरावृत्तिमात्र हैं। मन्त्रांश इस प्रकार है—

---

२६. 'प्रमुञ्चती पद का अर्थ विवादास्पद है। सा० के अनुसार 'प्रकर्ष रूप से सब का पालन करती हुयी' (प्रकर्षेण सर्वं पालयन्ती) अर्थ है। रोठ ने भी इसका अनुसरण करते हुये सेवा के लिये तत्पर' (Dienstfertig sein—PW) अर्थ किया है। गेल्डनर ने 'अच्छा कार्य करती हुयी' (Gutes tuend—DerRV.) अर्थ माना है। माधव ने इसकी व्याख्या 'प्रकर्षेण रक्षन्ती, और स्कन्द ने 'ज्योतिषा कृत्स्नं जगत् पालयन्ती' की है जो सायण की व्याख्या के समान हैं। प्रस्तुत मंत्र में उषा की यौवन -पूर्णता' या 'यौवनोन्मत्तता' का ही विशेष उल्लेख है जैसा कि यान् खोंदा ने भी स्वीकार किया है (द्र० एपिथेट्स इन द ऋग्वेद (ग्रावेनहेग, १९५९), पृ० ९९।
२७. (Der RV. I. P.59.
२८. द्र० ऋ० सं० पं० भा० (वै० सं० मं० पूना, १९५१), पृ० ५६१।

एवा यासीष्ठ तन्वे वयां
विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्। ऋ० १, १६५, १५।

(हे मरुद्गण ! हमारी इच्छानुसार यहाँ आओ, जिससे हम अपने शरीर के लिये (स्वयं के लिये) इस क्षिप्रदानी कार्य (या कार्य क्षमता) और अन्न को प्राप्त करें)।[२९]

इसी के साथ 'वृजनम्' से सम्बन्धित दूसरा मन्त्र यह है—

प्रतीचीनं वृजनं दोहसे गिरा........ ऋ० ५, ४८, १।

"पराङ्मुख कर्म को वाणी के द्वारा दोहन करते हो" (वश में करते हो)।[३०]

'वृजन' का दूसरा अर्थ 'अवरोध' है जिसे निम्नलिखित सन्दर्भों में देखा जा सकता है—

अति स्रसेम वृजनं नांहः ऋ० ६, ११, ६।

---

२९. सायण ने यहाँ पर 'वृजनम्' की व्याख्या 'बलम्' की है। गेल्डनर ने 'हविपुञ्ज, (Opferbundler) अर्थ किया है (डेर ऋ०, भा० १, पृ० २४०), किन्तु पुल्लिंग होने पर भी यह उन सन्दर्भों से भिन्न है जिन्हें उन्होंने पादटिप्पणी में अपने मत पुष्टि हेतु उद्धृत किया है (ऋ० ५, ४४' १; ६, ३५, ५; ७, ३२, २७; १०, २७, ४)। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'जीर दानु' विशेषण इस बात की पुष्टि करता है कि 'वृजनम्' यहाँ 'क्षिप्र या कार्यशील कर्म (क्षमता)' का द्योतक है। अतः 'बल' या 'हविपुञ्ज' अथवा 'समूह' अर्थ संगत नहीं हैं। अंग्रेजी में 'quick activity' इसके भाव को द्योतित कर सकती है।

३०. प्रस्तुत अंश में सा० ने वृजनम्' की व्याख्या 'बलम्' और 'प्रतीचीनम्' की अस्मदभिमुखम्' की है। किन्तु 'प्रतीचीनं' का अर्थ 'पराङ्मुख' या दूसरी ओर अभिमुख होना, मुड़ना' भी है। अतः इस सन्दर्भ में 'प्रतीचीनं वृजनं' का अर्थ 'पराङ्मुख कार्य' या पराङ्मुख घेरा' अन्धकार किया जा सकता है। गेल्डनर ने यहाँ सन्देह व्यक्त किया है तथा ओल्डेनबर्ग के 'वृजनं' के स्थान पर 'वृषणं' के अनुमान की आलोचना की है, (डेर ऋ०, भा० २, पृ० ४७)।

"अवरोध के समान संकीर्णता (narrowness) या दुःख का अतिक्रमण करें।"

'स्रसेम पद ऋ० में केवल यहीं पर आया है जो स्रंस धा० (गमन करना, नीचे (गिरना) का विधिलिङ् का रूप हैं ।

तमा नूनं वृजनमन्यथा चिच्छूरो

यच्छक्र वि दुरो गृणीषे । ऋ० ६, ३५, ५ ।

"हे बलवान् इन्द्र, तुम बाधाओं को दूर करने के लिये प्रसिद्ध हो। अतः उस बाधा या अवरोध को तुम शीघ्र ही दूर करो।"[३२]

अयन्मासा अयज्वनामवीराः

प्र यज्ञमन्मावृजनं तिराते । ऋ० ७, ६१, ४ ।

"यज्ञ न करने वाले लोगों के मास (समय) सूर्य दर्शन से रहित बीतें; जो यज्ञमन वाले हैं वे अवरोध (अन्धकार) को पार करें[३३] या कम को वर्धित करें।"

इसकी तुलना निम्नलिखित मन्त्रांश से कर सकते हैं –

प्र ये बन्धुं सूनृताभिस्तिरन्ते' । ऋ० ७, ६७, ६ ।

"जो अपने बन्धु (भाई-बन्धु) को अपनी वाणी से वर्धित करते हैं या अतिक्रमण करते हैं।"[३४]

स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजनं रक्षमाणः । ऋ० ९, ८७, २ ।

---

३१. Grassmann; Woert. P. 1617.

३२. सायण ने भी यहाँ पर 'वृजनं' का अर्थ 'बाधकं शत्रुं' किया है। गेल्ड० को इसके अर्थ पर यहाँ भी सन्देह है (द्र० वही, पृ० १३३)।

३३. 'तिराते, का अर्थ पार करना भी संभव है क्योंकि यह 'तृ तरणे' का रूप हो सकता है।

३४. यह अर्थ सा० के अनुसार है। इसकी तुलना ऋ० ७, ७, ६; ६१, ४ से भी सकते हैं।

"अशुभ का नाश और (शुभ) कर्म की रक्षा करते हुये देव इन्दु (सोम) स्वयं आयुध वाले (तुम) स्रवित होओ।"[३५]

'वृजन' का षष्ठी ए० व० का रूप ऋ० में तीन बार आया है।[३६] इनमें एक अन्शांश इस प्रकार है—

अषाल्हं युत्सु पृतनासु पप्रिं
स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम् ऋ० १, ९१, २१।

"युद्धों में अभिभूत न होने वाले, संघर्षों में पूर्ण (सफल), जल के प्रदाता और कर्म (दक्षता) के रक्षक (सोम हैं)।[३७]

इसी प्रकार अन्य दोनों स्थानों में क्रमशः इन्द्र और सोम को 'वृजन' का 'रक्षक' और 'राजा' कहा है। यदि हम इसकी तुलना 'सोमोऽस्माकं राजा ब्राह्मणानां' (वाज० सं० ९, ४०) या 'सोमो राजा प्रथमः' (ऋ० १०, १०९, २) से करें, तो 'वृजन' का अर्थ 'कार्य में लगे कर्मशील लोगों या समूह' के रूप में अर्थ विस्तार की दृष्टि से सोचा जा सकता है।

'वृजन' (नपुं०) का द्वि० ब० व० का रूप वृजना' ऋ० में तीन बार[३८] आया है और 'वृजनानि' केवल एक बार[३९]।

होगा—

समच्यन्त वृजनातित्विषन्त
यत्स्वरन्ति घोषं विततमृतायवः। ऋ० ५, ५४, १२।

---

३५. सा० ने यहाँ 'वृजन' की व्याख्या 'उपद्रव' की है। किन्तु 'रक्षमाणः' के संदर्भ में यह अर्थ असंगत है। सा० का रक्षमाणः' को पिता के साथ अन्वित करना भी संगत नहीं, क्योंकि वाक्य-विन्यास की दृष्टि से तथा एक ही पाद में होने से 'वृजनं रक्षमाणः' को एक साथ अन्वित करना ही संगत होगा।

३६. ऋ० १, ९१, २१; १०१, ११; ९, ९७, १०.

३७. यहाँ सा० ने 'वृजनं' का अर्थ 'बलं' किया है।

३८. ऋ० ५, ५४, १२; ६, ६६, ७; १०, १७६, १.

३९. ऋ० १, ७३, २.

"जब सत्य की कामना वाले लोग घोष करते हैं तब हे मरुत् ! तुम अपने समूह को या कार्य को अधिक तीक्ष्ण या प्रदीप्त करो और साथ संगत करो।[४०]

अन्तः पश्यन्वृजनेमावराण्या

तिष्ठति वृषभो गोषु जानन्। ऋ० ९, ९६, ७।

"इन अवर लोकों का अन्तः ज्ञान रखते हुये ज्ञानवान् वृषभ (सोम) गोष्ठों में स्थान ग्रहण करता है।"[४१]

प्र सूनव ऋभूणां बृहन्नवन्त वृजना।

क्षामा ये विश्वधायसोऽश्नन्धेनुं न मातरम्॥ ऋ० १०, १७६, १।

"ऋभु-पुत्रों ने वृहद्-स्थानों की ओर गमन किया तथा विश्व को धारण करने वाले इन ने पृथिवी को उसी प्रकार प्राप्त किया जैसे कि दुग्धा माता को (वत्स प्राप्त करता है)।"[४२]

देवो न यः सविता सत्यमन्मा

क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा॥ ऋ० १, ७३, २।

---

४०. सा० ने यहाँ 'वृजना' को तृतीया ए० व० का रूप माना है जो असंगत है।

४१. यहाँ 'अवराणि वृजनानि' का अर्थ 'निम्न वाड़ों' से है, जो 'परमं सधस्थं' (१, १६३, १३) या 'उत्तरं सधस्थं' (१, १५४, १) के विलोम रूप में 'पृथिवी लोक' के लिये प्रयुक्त प्रतीत होता है। सा० ने यहाँ भी 'बल' अर्थ ही माना है। यहाँ 'अन्तः पश्यन्' की तुलना अन्यत्र 'भुवनानि पश्यन्' (१, ३५, १) से कर सकते हैं।

४२. प्रस्तुत मन्त्र में 'वृजना' के साथ 'क्षामा' (पृथिवी) का स्पष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है जिसे ऋभुगण पहुँच कर प्राप्त करते हैं। सा० ने यहाँ पर 'संग्राम' अर्थ किया है जो संगत नहीं प्रतीत होता यहाँ 'स्थान', 'घेरा' आदि अर्थ संभव है।

"सवितृ देवता के समान जो अग्नि सत्यमन वाला होकर अपनी शक्ति से समस्त कर्मों (यज्ञ कर्मों) की रक्षा करता है।"[४३]

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो २

माशिवासो अवक्रमुः ॥ ऋ० ७, ३२ २७।

"अज्ञात, दुराराध्य (अपवित्र) और अशिव (अमंगलकारी) कर्म हमारा अतिक्रमण न करें (हमें अभिभूत न करें)।"[४४]

'वृजन' का तृतीया एक व० का रूप ऋ० में चार बार आया है। उनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

महो महानि पतयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।

वृजनेन वृजिनान्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥

ऋ० ३, ३४, ६।

---

४३. इसकी तुलना ऋ० १, ९१, २१ के 'स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्' से कर सकते हैं जहाँ सोम को 'वृजन' (कर्म) का रक्षक कहा गया है। सा० ने यहाँ 'संग्राम' अर्थ किया है; "शक्ति या प्रज्ञा द्वारा 'संग्राम' की रक्षा करता है"—अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि 'संग्राम की रक्षा' का क्या प्रश्न हो सकता है, संग्राम में व्यक्ति की, समूह की, बल की या 'कर्म की' रक्षा हो तो कुछ बात भी बनती दिखाई देती। गेल्डनर ने 'पुरोहित संघ' अर्थ किया है (द्र० डेर ऋ० भाग १, पृ० ९६)।

४४. सायण ने यहां 'वृजनाः' का अर्थ 'हिंसकाः' किया है। किन्तु यहाँ 'अज्ञाताः' 'वृजनाः' का विशेषण है जिसके आधार पर इसका अर्थ 'अज्ञात कर्म' या अज्ञात कर्म वाले लोग '(अपरिचित)' करना संगत होगा। गेल्ड० द्वारा किया गया अर्थ 'अज्ञात संमूह' (unbekannte Bundener) अधिक उचित ज्ञात पड़ता है (वही, भा० २, पृ० २१०)। वेलणकर द्वारा किया गया अर्थ—'शक्तिशाली लोग' एक प्रकार से सा० द्वारा अन्यत्र किये गये 'बल' अर्थ का अनुसरणमात्र है। प्रस्तुत मंत्र में उन्होंने इसे 'शत्रुतापूर्ण' अर्थ में स्वीकार किया है और उसकी पुष्टि में ऋ० ७, ९९, ६ की तुलना की है। (द्र० RV. M. Vii, P. ८२n, बम्बई, १९६३), किन्तु वहाँ भी यह इससे भिन्न अर्थ में है।

"इस महान् इन्द्र के अनेक पुण्य और महत्कर्मों की लोग स्तुति करते हैं। इसने अपने कर्म द्वारा 'दुष्कर्मियों' को नष्ट किया एवं अभिभूत करने वाले ओज से युक्त उसने अपनी माया[४५] के द्वारा दस्युओं को नष्ट किया।"[४६]

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥

ऋ० १०, ४२, १०।

"हे बहुमानिन् इन्द्र ! अपनी दारिद्रय रूपी बुद्धि का गौओं द्वारा एवं समस्त भूख का यव (अन्न) द्वारा अतिक्रमण करें (पार करें); अपने शोभनकर्म द्वारा राजाओं के साथ मुख्य धन को जीतें।"[४७]

आगे के दो सूक्तों के अन्तिम दोनों मन्त्र इसी मन्त्र की आवृत्ति हैं।

सप्तम्यन्त 'वृजने' रूप ऋ० में १४ बार आया है जिनमें से दो एक सन्दर्भों का उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा —

अस्मिन्निन्द्र वृजने सर्ववीराः

स्मत्सूरिभिस्तव शर्मन्त्स्याम ॥ ऋ० १, ५१, १५।

---

४५. माया के अनेक अर्थ ये हैं—चालाकी, दक्षता, अमानवीय शक्ति, धूर्तता, धोखा, जादू, कला, बुद्धि आदि (रोठ, मोनियर विलियम्स); धोखा, धूर्तता, आश्चर्य (गेल्डनर), असत्यज्ञान, चालाकी (ए. बेर्थोलिट)। विस्तृत परिचय के लिये द्रष्टव्य —

J. Gonda, 'The original sense and the etymology of Skt, māyā in 'Four studies in the language of the Veda' (S-gravenhage, 1959 pp. 119-194, 'Māyā' in 'Change and Continuity in Indian Religion (the Hague 1965) pp. 164-197.

४६. यहाँ 'वृजन' के द्वारा 'वृजिन' का पेषण दो अर्थों का द्योतक है—(१) या तो इन्द्र ने अपने महान् 'कार्य' द्वारा 'वृजिन' को नष्ट किया या (२) अपने 'समूह' द्वारा उसका पेषण किया। यहाँ 'वृजन' की तुलना ऋ० ३, ३४, ३ के 'शर्ध' से की जा सकती है जहाँ सा० ने शर्ध का अर्थ 'कर्म' किया है।

४७. यहाँ सा० ने 'वृजनेन' की व्याख्या 'बलेन' की है और मंत्र के अन्तिम दोनों पादों को दो वाक्यों के रूप में ग्रहण किया है। गेल्ड० ने राजभिः, की अन्विति 'वृजनेन' के साथ की है जो असंगत है क्योंकि 'राजभिः' बहुवचनान्त है। वास्तव में 'प्रथमा धनानि' की अन्विति दोनों में पृथक् होगी जो 'शब्दमितव्ययिता' (Word Economy) का द्योतक है।

"हे इन्द्र इस कर्म में सभी लोग हों तथा अपने वीरों (पुत्रों आदि) सहित हम तुम्हारी शरण प्राप्त करें।"[४९]

यमृत्विजो वृजने मानुषासः
प्रयस्वन्त आयवो जीजनन्त ॥ ऋ० १, ६० ३।

"जिस (अग्नि) को मनु के पुत्र ऋत्विज मानवों ने रस (सोमरस) से युक्त होकर कर्म में (यज्ञ कर्म में) उत्पन्न किया।"[५०]

त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ
यूने कुत्साय द्युमते सचाहन् ॥ ऋ० १, ६३, ३।

"हे इन्द्र, तुमने कर्म से पूर्ण युद्ध में दिव्य यौवन युक्त कुत्स के लिये शुष्ण नामक राक्षस का हनन किया।"[५१]

प्रस्तुत मन्त्र में सायण ने 'वृजने' और 'आणौ' दोनों को 'संग्राम' अर्थ में ग्रहण किया है। किन्तु एक ही अर्थ वाले दो शब्दों का एक साथ प्रयोग क्यों किया गया होगा, विचारणीय है। यहाँ 'वृजने' और 'पृक्षे' उसी प्रकार 'आणौ' के विशेषण हैं जैसे दूसरे पाद में 'यूने' और द्युमते' कुत्साय' के विशेषण हैं, इस प्रकार दोनों पादों में तीन-तीन चतुर्थ्यन्त पदों की संगति एक साहित्यिक विशेषता है। अतः अर्थ की दृष्टि से 'वृजने आणौ' की व्याख्या 'युद्धमय कर्म में' करना अधिक संगत होगा।

---

४९. सा० ने यहाँ 'वृजने' की व्याख्या संग्रामे की है जो सन्दर्भहीन होने से असंगत है। गेल्ड० ने 'घेरा' (Ringen) अर्थ किया है जो 'यज्ञस्थान' या बाड़े का द्योतक है। इसकी तुलना ऋ० ३, ३०, २२; १० ७५, ६; १४९, ५ से की जा सकती है जहाँ 'वाजे', 'आजौ' 'भरे' आदि पद 'यज्ञस्थान' के द्योतक हैं जिनके साथ 'अस्मिन्' विशेषण लगा हुआ है।

५०. सा० ने यहाँ पर 'वृजने' की 'व्याख्या संग्रामे' की है और गेल्ड० ने 'हविपुञ्ज' (Opferbund) अर्थ किया है। किन्तु यहाँ 'यज्ञस्थान' या 'यज्ञकर्म' ही विवक्षित प्रतीत होता है।

५१. प्रस्तुत मंत्र के 'वृजने पृक्षे आणौ' की तुलना ऋ० ५, २९, १० के 'दुर्योणे' या ऋ० १०, १२, ११ के 'आक्षाणे' से कर सकते हैं जहाँ 'इन्द्र ने कुत्स के लिये दुष्टों का हनन किया'—इस प्रकार का कथन है।

यद्वा मरुत्वः परमे सधस्थे

यद्वावमे वृजने मादयासे ॥ ऋ० १, १०१, ८

"हे मरुत्वान् इन्द्र या तो तुम परम सधस्थ (द्युलोक) में अथवा अवर स्थान (पृथिवी लोक या यज्ञ स्थान) में हर्षित होते हो।[५२]

प्रस्तुत मन्त्र में 'वृजन' का अर्थ 'घिरे स्थान' से है जो सम्भवतः 'यज्ञ-स्थान' का द्योतक है। इसकी तुलना उन सन्दर्भों से कर सकते हैं जहाँ 'वृजने' के साथ 'अवर' विशेषण लगा हुआ है अथवा सधस्थ शब्द आया है। ऐसे सभी सन्दर्भों में 'वृजन' का अर्थ 'घिरा स्थान' या 'बाड़ा' अथवा 'रक्षित स्थान' प्रतीत होता है। ये सन्दर्भ ऋ० २, २४, ११; ५, ५२, ७' १०, २७, ५; ६३, १५; ६६, २ हैं।

'वृजने' के साथ ही ब० व० 'वृजनेषु' रूप पर भी विचार करना संगत होगा। यह रूप ऋ० में आठ बार आया है।[५३]

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा।

समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम् ॥

ऋ० २, २, १

"(ऐसे) जातवेदस् अग्नि का यज्ञ के द्वारा वर्धन करो और हवि तथा विस्तृत वाणी (स्तुति) के द्वारा उसकी पूजा (प्रशंसा) करो, जो अग्नि प्रज्ज्वलित, सुन्दर अन्न वाला, स्वर्गीय व्यक्तित्व वाला, द्युलोक में निवास करने वाला और पार्थिव लोकों (घिरा स्थान, यज्ञ स्थान) में धुरी (मुख्य स्थान, केन्द्र) पर बैठने वाला है।"

यहाँ 'वृजनेषु धूर्षदम्' का भाव समस्त पूजा या यज्ञ स्थानों में (जो रक्षित या घिरे होते हैं) निहित अग्नि से प्रतीत होता है। मूलतः 'वृजन' का अर्थ घिरे स्थान या बाड़े' से लिया गया होगा, किन्तु कालान्तर में वह 'यज्ञ स्थान' या इसी प्रकार

---

५२. इसके पूर्व "परमे सधस्थे' तथा 'अवरे वृजने' पर संकेत दिया जा चुका है (द्र० पाद टिप्पणी ४१)।

५३ ऋ० २, २, १; ६; ३४, ७, ६, ६८, ३; ७, ६६, ६; ६, ७७, ५; १०, २७, ५; २८, ३।

'कर्म' अर्थ में 'यज्ञ कर्म' का पर्याय बन गया होगा।[५४] अन्यत्र अग्नि को 'ऋत की धुरी पर बैठनेवाला कहा गया है (ऋतस्य धूर्षदमग्निम्—ऋ० १, १४३, ७)। इसी प्रकार मित्रावरुणौ की तुलना 'धूर्षद अश्व' से की गई है।[५५] वास्तव में 'धूर्षद' का अर्थ 'धुरी या जुये में जुता हुआ' है जैसा कि ऋ० के कुछ सन्दर्भों से ज्ञात होता है।[५६]

'वृजनेषु' से सम्बन्धित अन्य मन्त्र भी उल्लेखनीय हैं—

एवा नो अग्ने अमृतेषु पूर्व्य धीष्पीपाय बृहद्दिवेषु मानुषा।

दुहाना धेनुर्वृजनेषु कारवे त्मना शतिनं पुरुरूपमिषणि॥

ऋ० २, २, ९।

"हे अग्नि, हमारी मानुषी बुद्धि (स्तुति, वाक्), प्रभूत द्युतिवाले, अमरों में प्रथम (तुम्हें प्राप्तकर) वर्धित हुयी और वह दोग्ध्री वाक् स्वयमेव स्तोता के लिये सैकड़ों प्रकार के अनेक भोज्य पदार्थों की यज्ञ स्थानो में दायिका है।"

इसी के समान निम्नलिखित मन्त्रांश भी हैं—

इष स्तोतृभ्यो वृजनेषु कारवे.........। ऋ० २, २, ६।

"स्तोताओं के लिये एवं गान करने वालों के लिये 'यज्ञ स्थानों में' अन्न (प्रदान करो)।"[५७]

---

५४. सा० ने यहाँ 'बलेषु' व्याख्या की है। गेल्ड० ने 'यज्ञ' अर्थ माना है (द्र० डेर ऋ० भाग १, पृ० २७७)। वेलणकर ने 'अनुसरण करने वालों का समूह' अर्थ किया है। (द्र० ऋ० सप्त० मं०, बम्बई, १९६६, पृ० ८) किन्तु 'धूर्षद' के साथ इस अर्थ की संगति नहीं बैठती। अन्यत्र (ऋ० १, १४३, ७) सा० ने 'यज्ञस्य धुरि सीदन्तम्' व्याख्या की है जिसकी तुलना यहाँ की जा सकती है।

५५ ऋ० १०,१३२,७

५६. ऋ० ७. ३४, ४; ६३, २; ६७, ८ आदि।

५७. यहाँ सा० ने 'वृजनेषु' की व्याख्या 'यज्ञेषु' की है। गेल्ड० ने 'यज्ञसमूह' (Ofperverbaenden) किया है (द्र० डेर ऋ०, भा० १, पृ० २७९)। यहाँ 'दुहाना धेनु' वाक् है, जिसकी तुलना हम 'सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु' (ऋ० ८ १००, ११) से कर सकते हैं। अन्य सन्दर्भों (ऋ० १०,६४, १२;७१,५) में भी यह भाव निहित है।

वज्रेणान्यः शवसा हन्ति वृत्रं

सिषक्त्यन्यो वृजनेषु विप्रः । ऋ० ६, ६८, ३ ।

"उनमें (इन्द्रवरुण) एक (इन्द्र) बलपूर्वक वज्र द्वारा वृत्र का हनन करता है तथा दूसरा मेधावी (वरुण) यज्ञ स्थानों या कार्यों में साथ रहने वाला है।"

इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती ।

ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र ॥

ऋ० ७, ९९, ६ ।

"इस बृहती मनीषा (बुद्धि, स्तुति, वाक्) ने (अपनी) शक्ति द्वारा बृहद् एवं विस्तीर्ण पाद प्रक्षेपों वाले तुम दोनों का वर्धन करती हुयी सभाओं में तुम दोनों को स्तोत्र प्रदान किया है। हे विष्णु और इन्द्र, यज्ञ-स्थान में अन्न को वर्धित करो।"[५८]

इस मंत्र में मनीषा का वही स्थान है जो उपर्युक्त मंत्रों में 'दुहाना धेनुः' का रहा है। अतः उसे वाग्देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। 'वृजन' यहाँ 'यज्ञस्थान' (घिरा स्थान, बाड़ा) का द्योतक है।

निम्नलिखित मंत्र में भी वृजनेषु' विशेष स्थान का या 'कर्म करने वालों के समूह' का द्योतक है जिसकी पुष्टि उसके समानान्तर पद 'यूथे' से होती है—

असावि मित्रो वृजनेषु यज्ञियोऽत्यो

न यूथे वृषयुः कनिक्रदत् ऋ० ९, ७७, ५, ।

'मित्रवद्, पूजनीय (सोम) जब यज्ञ-स्थान में अभिषूत किया जाता है तो यूथ में वीर्य सिंचन की कामना वाले अश्व के समान शब्द करता है।"

---

५८. सा० ने यहाँ 'वृजनेषु' की व्याख्या नहीं की। 'ररे' क्रिया पद उ० पु० ए० व० में है। किन्तु प्रथम दो पादों में मुख्य क्रिया पद न होने से इसका कर्ता 'मनीषा' को माना जा सकता है। वैसे 'इयं मनीषा' का सम्बन्ध 'मेरी स्तुति' से होने से यह उ० पु० के साथ ही सम्बन्धित है; किन्तु वाक्य विन्यास की दृष्टि से इसे तीसरे पाद के साथ भी अन्वित करना संगत होगा। अन्यथा तृतीय पाद का अर्थ 'मैंने तुम दोनों को स्त्रोत प्रदान किया है'—होगा।

निम्नलिखित मन्त्र में भी यही भाव है—

यदज्ञातेषु वृजनेष्वासं विश्वे

सतो मघवानो म आसन् ॥ ऋ० १०, २७, ४।

"जब मैं अज्ञात स्थानों (या संघों) में होता हूँ तो सभी धनवान् लोग मेरे साथ होते हैं।"[५८]

उपर्युक्त 'अज्ञात वृजन' के सन्दर्भ में निम्नलिखित मंत्र भी द्रष्टव्य है—

विश्वेष्वेनं वृजनेषु पामि

यो मे कुक्षी सुतसोमः पृणाति ॥ ऋ० १०, २८, २।

"जो सोम का अभिषव करने वाला व्यक्ति मेरी कुक्षि (पेट) को आपूर्ण करता है मैं समस्त स्थानों (यज्ञों या समूहों) में उसकी रक्षा करता हूँ।"

'वृजन' शब्द का स्त्री० का सप्तमी ब० व० का रूप ऋ० में एक बार आया है—

'युक्ता माता सीद्धुरि दक्षिणाया

अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः। ऋ० १, १६४, ९।

"पृथिवी की धुरि से मा युक्त थी तथा गर्भ 'वृजनियों' के अन्तर में निहित था।"

यहाँ सा० ने 'वृजनीषु' का अर्थ 'उदकवत्सु मेघपंक्तिषु' (जल से परिपूर्ण मेघ-पंक्तियाँ) किया है। आत्मानन्द[५९] ने अपने भाष्य में इसकी व्याख्या 'बलवतीषु तिसृष्ववस्थासु' किया है। इसकी तुलना हम अथर्ववेद (७, ३२, ७) से कर सकते हैं जहाँ 'वृजनीभिः' पद आया है—

---

५८. यहाँ 'अज्ञात स्थानों की' तुलना हम अन्यत्र 'अज्ञात वृजनाः' (ऋ० ७, ३२, २७) से कर सकते हैं जिसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

यहाँ गेल्ड० द्वारा किया गया अर्थ 'अपरिचित समूह' (fremden Bundern) संगत प्रतीत होता है (द्र० डेर ऋ०, भा० ३, पृ० १८५)।

५९. सी० कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित 'अस्यवामीय सूक्त' (मद्रास, १९५६), पृ० १८।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ।।

"दारिद्रय युक्त अमति (दुर्बुद्धि) को हम गौओं द्वारा पार करें और समस्त प्रकार की क्षुधा को यव द्वारा (जीतें) । हम राजाओं के मध्य मुख्य धन को अहिंसित होते हुये 'वृजनियों, द्वारा जीतें ।

ऋ० में भी यह मंत्र कुछ परिवर्तनों के साथ मिलता है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है । वहाँ अन्तिम पाद 'धनानि' के पश्चात् 'अस्माकेन वृजनेना जयेम' है तथा 'राजसु' के स्थान पर 'राजभिः' रूप है । यह परिवर्तन पाठ और अर्थ—दोनों की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है । 'वृजनीभिः' को 'गोभि' के समानान्तर रखा जा सकता है; क्योंकि वैदिक काल में 'ये' मुख्य धन थीं जिनको राजाओं से अलग कर 'मुख्य धन' के रूप में जीता जा सकता था । अतः 'वृजनीभिः' का शाब्दिक अर्थ 'गोष्ठ या बाड़े में जाने वाली अर्थात् गौओं द्वारा' होगा ।

अतः उपर्युक्त 'वृजीनीष्वन्तः' पद अर्थ शाब्दिक रूप में गौओं में, किया जा सकता है । किन्तु 'गौ' 'वाणी' या 'जलधारा दोनों का प्रतीक हो सकती है । मंत्र में 'दक्षिणायाः' पद से भी 'गौ' अर्थ की ही प्रतीति होती है, साथ ही जहाँ ऋ० में 'वृषभ' ,रेतस्' का प्रतीक है वही 'गौ' प्रजननकर्त्री या गर्भधारिणी' भी है । इसलिये 'वृजनीषु' का अर्थ 'गौओं में' करना संगत होगा ।

'वृजन' से निष्पन्न 'वृजन्य' शब्द का ष० ए० व० का रूप 'वृजन्यस्य' भी ऋ० में एक बार आया है —

प्रदानुदो दिव्यो दानुपिन्व ऋतमृताय पवते सुमेधाः ।

धर्मा भुवद्वृजन्यस्य राजा प्र रश्मिभिर्दशभिर्भारि भूम ।।

ऋ० ९, ९७, २३ ।

',जल का प्रदाता.[६०] दिव्य, जल का क्षरण करने वाला, सुन्दर मेधा वाला (सोम) ऋत के लिये ऋत का (जल का) प्रक्षरण करता है । कर्मण्य लोगों का

---

६०. सायण ने 'दानुदः' का अर्थ 'दानशील' किया है, किन्तु 'दानु' शब्द ऋ० तथा अन्य इन्डो यूरो० भाषाओं में नदी या जल का वाचक भी है । ओस्सेटिक 'दोन' (नदी, जल), अवेस्तन 'दानु' नदी, जल) इसके समान हैं (द्रष्टव्य Christ. Barthlomae Altiran. Woert. P. 733-34.

स्वामी[६१] वह सब का पोषक है। दस रश्मियों (अंगुलियों) के द्वारा वह प्रकर्ष रूप से धारण किया जाता है (अभिषूत किया जाता है)।''

जिस प्रकार प्रस्तुत मंत्र में 'वृजन्यस्य राजा' है वैसे ही इसके पूर्व (ऋ० ६, ६७, १०) मंत्र में 'वृजनस्य राजा' आया है। इससे स्पष्ट होता है कि सोम 'कर्म' और 'कर्मण्यशील' दोनों का स्वामी है। यह भी संभव है कि दोनों सन्दर्भों में अर्थ एक ही हो किन्तु यहाँ छन्द की दृष्टि से 'वृजन्यस्य' कर दिया गया हो।

'वृजन' के समान ही 'वृजिन' शब्द भी है, किन्तु 'वृजिन' का अर्थ 'वृजन' के विपरीत अर्थ का द्योतक प्रतीत होता है। सन्दर्भों को देखने से ज्ञात होता है कि यह 'दुष्कर्म' या 'पाप' का समानार्थी है। इस पर विचार करते समय हम इसके विलोम 'अवृजिनी' से विचार प्रारम्भ करेंगे। आदित्यों को एक बार 'अवृजिनाः' कहा गया है—

इमं स्तोमं सक्रतवो मे अद्य मित्रो अर्यमा वरुणो जुषन्त।

आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः ॥

ऋ० २, २७, २।

''मित्र अर्यमन् और वरुण मेरे इस स्तोत्र को आज समान भाव से स्वीकार करें। वे आदित्य प्रकाश युक्त, धारा के समान पवित्र, दुष्कर्म—रहित,[६२] अनिन्द्य और अहिंसित हैं।''

यह 'अवृजिनाः' तत्पुरुष समास (नञ् तत्पु०) में है इससे स्पष्ट होता है कि वह 'अनवद्य' और 'अरिष्ट' के साथ अच्छे कर्म का द्योतक है तथा 'वृजिन' का विलोम।[६३] अतः 'वृजिन' का अर्थ 'दुष्कर्म' या 'दुष्कर्मी' होना चाहिए।

जिस प्रकार वृजन' शब्द पु० और नपु०—दोनों में है उसी प्रकार 'वृजिन' का प्रयोग भी दोनों लिङ्गों में हुआ है। उपर्युक्त 'अवृजिनाः' पद पुंलिङ्ग में है। उसी के साथ अन्य पु० पदो पर विचार किया जा सकता है।

---

६१. सा० ने यहाँ 'वृजन्यस्य' की व्याख्या 'साधुवलस्य' की है। गेल्ड० ने 'समूह' (स्तोतासंघ) अर्थ किया है (द्र० डेर ऋ०, भा० ३, पृ० ६४)।

६२. सा० ने यहाँ 'अवृजिनाः' की व्याख्या 'अवर्जितारः' की है और इसे 'वृजी वर्जने' से निष्पन्न माना है।

६३. 'वृजिना' का प्रयोग 'वृजिना-साधु' (२, २७, ३) और 'वृजिना-ऋजु' च पश्यन् (४, १, १७; ५१, २; ७, ६०,) जैसे विपरीत जोडे के साथ भी उसके 'असाधु', 'कुटिल', 'दुष्ट' आदि अर्थों की पुष्टि करता है।

प्रथमा ब० व० 'वृजिनाः' पद केवल एक बार (ऋ० ५, ३, ११) आया है —

त्वमंङ्ग जरितारं यविष्ठ विश्वान्यग्ने दुरिताति पर्षि ।

स्तेना अदृश्रन्रिपवो जनासोऽज्ञातकेता वृजिना अभूवन् ॥

"हे स्वामी युवतम अग्नि, तुम स्तोता को अनेक कठिनाइयों से पार उतारते हो; (अतः) चोर दिखलाई पड़ने वाले, शत्रु एवं अज्ञात स्थान वाले जो लोग दुष्ट (या पापी) हो गये हैं (उनसे हमारी रक्षा करो) ।[६४]

द्वितीया ब० व० में 'वृजिनान्' पद भी एक ही बार (३, ३४, ६) आया है; जिसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है ।

षष्ठी ए० व० का रूप 'वृजिनस्य' एक बार (६, ६७, ४३) आया है जहाँ वह 'ऋजु' का विलोम प्रतीत होता है, जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'वृजिन' संभवतः वृज् + इन्=वृजिन्='कुटिल गामी या विलोम चलने वाला'—रूप में निष्पन्न हुआ होगा । मंत्रांश इस प्रकार है—

ऋजुः पवस्व वृजिनस्य हन्तापामीवां बाधमानो मृधश्च ।

"हे सोम, तुम दुष्कर्म के हननकर्त्ता तथा रोग एवं हिंसक को बाधित करते हो, अतः ऋजु गामी गोकर स्रवित होओ ।"

सा० ने यहाँ 'वृजिनस्य' की व्याख्या 'उपद्रवस्य' की है । ष० ब० व० का रूप 'वृजिनानाम्' भी एक बार आया है—

मा नो मुचा रिपूणां वृजिनानामविष्यवः । देवा अभिप्रमृक्षत ॥ ८, ६७, ९ ।

"हे रक्षा करने की कामनावाले देवतागण ! कुटिलगामी (दुष्ट) शत्रुओं की हिंसा हमारे ऊपर अपना जाल न बिछाये ।"

द्वि० ए० व० का रूप चार बार आआ हैं ।[६५] अग्नि को सम्बोधित करते हुये कहा गया है कि वह 'वृजिन रिपु' को दूर करे—

---

६४. सा० ने यहाँ पर 'वृजिनः' की व्याख्या 'अस्माभिर्वर्जित': की है ।

६५. ऋ० ६, ५१, १३; ७, १०४, १३; ८, ६७, ८; १०, ८७, १५ ।

अध त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।   ऋ० ६, ४१, १३ ।

"हे अग्नि ! तुम उस दुष्ट (पापी) शत्रु को (जो) चोर है, दुराध्य एवं बलिष्ठ है, दूर करो ।"

इसी के समान अन्य सन्दर्भ में (ऋ० ७, १०, ४; १३) सोम से 'वृजिन' को प्रेरित न करने की कामना की गई है। दूसरे स्थान पर (६,६७,१८) 'वृजन' 'ऋजु' के साथ आया है जहाँ सायण ने इसे 'बल' का पर्याय माना है। किन्तु यह 'च……च' योग में यहाँ 'ऋजु' के विपरीत अर्थ के 'पूरक रूप' (Complementary) प्रतीत होता है।[६६] मन्त्रांश इस प्रकार है -

ग्रन्थिं न वि ष्य ग्रथितं पुनान

ऋजुं च गातुं वृजिनं च सोम ॥

"हे अभिषूयमान सोम ! ग्रथित की गई ग्रन्थियों का विमोचन करो एवं ऋजु और कुटिल मार्ग को (हमारे लिये सुगम करो) ।"

यहाँ स्पष्ट ही 'वृजिन' 'ऋजु' का विलोम प्रतीत होता है।

अन्यत्र 'वृजिनम्' का योग 'एनस्' के साथ है—

पराद्य देवा वृजिनं च शृणन्तु

प्रत्यगेनं शपथा यन्तु तृष्टाः ।   —ऋ० १०, ८७, १५.

"आज सभी देवतागण कुटिलता को नष्ट करें और सभी अभिशाप एवं पाप दूर चले जायँ ।"

पु० में द्वितीया ब० व० का रूप केवल एक बार (३, ३४, ६) आया है जिसका विवेचन किया जा चुका है।

---

६६. द्रष्टव्य—यान् खोंदा (Jan Gonda) का 'The use of the particle ca, Vak No. 5 Deccon College Poona, 1957, PP. 173) नामक लेख, जिसमें विपरीत जोड़ों और पूरक शब्दों पर 'च' के साथ विस्तृत विचार किया गया है।

नपुं० में ब० व० का रूप 'वृजनानि' तीन बार आया है[६७] और सभी स्थानों में कुटिलता, दुष्टता, बाधा आदि अर्थों में है।

सप्त० ए० व० में 'वृजिने' रूप केवल एक बार आया है जहाँ यह 'असमने' (विषम) का पूरक है—

'असमने अध्वनि वृजिने पथि.........। ऋ० ६, ४१, १३।

"असमान या विषम मार्ग में एवं कुटिल पथ में......।"

नपुं० द्वि० व० व० का रूप 'वृजिना' ऋ० में सात बार आया है।[६८] इनमें एक मन्त्र में (२, २७, ३) यह 'साधु'—का विलोम है तथा तीन मंत्री में पश्यन्) बनकर प्रयुक्त हुआ है। अन्य शेष स्थानों में भी इन्हीं अर्थों की प्रतीति होती हैं।

एक मंत्र (१, ३१, ६) में 'वृजिनवर्तनिम्' आया है जहाँ यह सामासिक रूप में 'नरम्' का विशेषण है। सा० ने यहाँ पर 'सदाचाररहित' अर्थ किया है; किन्तु उसकी अग्नि रक्षा करता है, इसलिये यह अर्थ असंगत है। संभवतः 'चारों ओर उल्टा परिक्रमा करने' अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है जिसकी अग्नि यज्ञ में रक्षा करता है। मन्त्रांश इस प्रकार है—

"त्वमग्ने वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन् पिपर्षि विदथे विचर्षणे।"

"हे तीक्ष्ण दृष्टि वाले अग्नि! तुम यज्ञ में कुटिलगामी व्यक्ति की साथ में रक्षा करते हो।"

यहाँ 'सक्मन्' के साथ इसका अर्थ "साधु के साथ दुष्ट की भी यज्ञ में रक्षा करते हो"—भी संभव है जैसा कि सा० ने किया है। गेल्ड० को इसके अर्थ पर सन्देह है[६९]। वैसे उनका अनुवाद Krumme Wege geratten Mann" (दुष्ट या कुटिल मार्ग गामी व्यक्ति) बिल्कुल ठीक प्रतीत होता है।

---

६७. ऋ० ४, २३, ८; ५, १२, ५; ६ ५२, २.

६८. ऋ० २, २७, ३; ४, १, १७; २, ११; ६, ५१, २; ७; ६२, २; १०. ८१. ८; १०५, ८.

६९. Der. RV. I,P.34 (foot notes).

एक अन्य स्थान पर "वृजिनयन्तम्' आया है[७०]—

अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता
सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम् ॥

"आशिष् (हवि—सायण) न देने वाले, सत्य का नाश करने वाले, कुटिल मार्ग पर चलने वाले असुर का मैं (इन्द्र) प्रकर्ष रूप से हनन करने वाला हूँ।"

यहाँ 'सत्यध्वृतं' (सत्य की हिंसा करने वाला) के साथ 'वृजिनयन्तम्, पूरकशब्द के रूप में प्रयुक्त है तथा उसका समानार्थी है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'वृजन' और 'वृजिन' दोनों एक दूसरे के विपरीत अर्थ के बोधक हैं। जहाँ 'वृजन' में 'साधु कर्म' का भाव है वहीं 'वृजिन' में असाधुकर्म' का भाव निहित है।

---

७०. ऋ० १०, २७, १.

———

ऋग्वेद २.२.१. की समीक्षात्मक व्याख्या

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा ।

समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम् ॥२.२.१॥

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या विभिन्न व्याख्याकारों ने की है। प्राच्य एवं पाश्चात्य व्याख्याओं के निरीक्षण से यह ज्ञात होता है कि इस मन्त्र में प्रयुक्त 'जातवेदसम्', 'तना', सुप्रयसम्', 'स्वर्णरम्', 'द्युक्षम्' और 'वृजनेषु' पदों की व्याख्याओं में व्याख्याकारों में मतभेद है। अतः इन पदों की व्याख्याओं का यहाँ समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जातवेदसम्—ऋग्वेद (ऋ०) में अग्नि के विशेष नाम के रूप में जातवेदस् शब्द के अनेक रूप प्रयुक्त हैं, जिनमें 'जातवेदम्' रूप २४ बार आया है।[१] सायण (सा०) ने यास्क[२] के आधार पर इसकी व्याख्या 'जातानां वेदितारं जातधनं, जातप्रज्ञं वा' की है। यास्क ने इसका निर्वचन करते हुए कहा है—'जातवेदाः कस्मात् जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यते इतिवा; जातावतोः वा जातधनः; जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः; यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति ब्राह्मणम्।' माधव[३], उद्‌गीथाचार्य[४], स्कन्दस्वामी,[५], और वेंकट माधव[६] (वें० मा०) ने यास्क की किसी न किसी व्याख्या का अनुसरण किया है।

---

१. ऋ० १.४४.४; ५०.१; १२७.१२;२.२.१; ३.२.८; ३.८; ११.४; ५.६.१; २२.२; २६.७; ६. १५.७; ४८.१; १७; २२; ४३.२३. ७१. १, ४.३. ५; १०.६.५; १६.१०; १५०.३; १७६,२; १८८.१.

२. निरु० ७.१६.

३. ऋ० व्याख्या १.४४.४.

४. ऋग्वेद भाष्य १०.६.५.

५. ऋग्वेद भाष्य (मद्रास १९३५) १.४४.४; ५०.१.

६. ऋगर्थ दीपिका —डा० लक्ष्मण सरूप द्वारा सम्पादित, लाहौर १९३९, २.२.२.

रोठ,[७] विल्सन[८] ग्रासमान[९] ग्रिफिथ[१०], ओल्डेनबर्ग[११], गेल्डर[१२] आदि सभी ने सा० की व्याख्याओं का अनुसरण किया है। 'जातवेदस्' को इन व्याख्याकारों ने व्यक्तिवाचक संज्ञा (अग्नि के नाम) के रूप में ही स्वीकार किया है।

ऐतरेय ब्राह्मण[१३] (ऐ० ब्रा०) में प्राण को 'जातवेदस्' कहा गया है, क्योंकि वह समस्त प्राणियों को जानता है (प्राणो हि जातवेदाः सः हि जातानां वेद)। शतपथ ब्रा० में अग्नि को इसलिए जातवेदस् माना गया है क्योंकि वह उत्पन्न होते ही सभी को प्राप्त कर लेता है (तज्जातं जातं विन्दते तस्माज्जातवेदाः)।[१४] यास्क ने भी अपनी अन्तिम व्याख्या में इसी को उद्धृत किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यास्क ने इसके छः निर्वचन दिये हैं जिनमें तीन धातुयें हैं—(१) 'विद् ज्ञाने', (२) 'विदि रलाभे' और विद् (व्याप्त होने में)। इनमें प्राचीनतम निष्पत्ति 'विद ज्ञाने' से प्रतीत होती है, जिसकी पुष्टि अथर्ववेद[१५] के एक मन्त्र से होती है—'काव्येन केन जातेवदाः' (ज्ञान के किस स्रोत से उत्पन्न होने के कारण तुम (प्राणियों के जानने वाले हो)। दूसरा प्रमाण ऐत० ब्रा० का है जिसे 'प्राणो हि जातवेदाः, स हि जातानां वेद'—रूप में पहले उद्धृत किया जा चुका है। ऋग्वेद के मन्त्रों 'विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः[१७]' (जन्म लेते ही वह समस्त प्राणियों को जान लेता है और 'जन्मञ्जन्मन्निहितो जातवेदाः) (हे जातवेदस्, तुम प्रत्येक प्राणी में निहित हो, उसे जानते हो) से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये निरुक्तियाँ ऋषियों द्वारा ही प्रणीत थीं। किन्तु ऋग्वेद में वेदसः[१८], वेदसाम्[१९] आदि पद 'धन' के वाचक हैं जिससे 'जातवेदस्' का अर्थ 'जन्म लेते ही धन प्राप्त करने वाला' या 'जातधन, भी संभव है। अथवा अग्नि

---

७. St. Petersberg Sans, Woert.
८. RV. Trans. Pt. 2, P.123, (Banglore 1925-28).
९. Woert. zun RV. Wiesbaden.
१०. Hymns. RV.I, Varanasi 1963, P.61.
११. SBE 46; P.193.
१२. Der RV. 1, P. 271.
१३. ऐ० ब्रा० २ २९.
१४. शत० ब्रा० ९.५.१.६८.
१५. अथर्व० ५.११.२.
१६. ऋ० ६.१५.१३.
१७. ऋ० ३.१.२०.
१८. वहीं २.१७.६.
१९. वहीं १.९ ५.

सभी प्राणियों में समभाव से विद्यमान होने के कारण 'जाते जाते विद्यते' जैसी यास्क प्रणीत व्याख्या भी संभव है। इस प्रकार 'जातवेदस्' के अनेक अर्थ संभव हैं।

रोठ ने इसे 'वेदस्' (जो सबसे सम्बन्धित है) से निष्पन्न माना है, किन्तु इसका कोई आधार नहीं प्रस्तुत किया।

तना—

ऋग्वेद में इस पद की आवृत्ति २४ बार हुइ है।[२१] यहाँ पर सायण ने इसे गिरा (वाणी) का विशेषण मानकर इसका अर्थ 'विस्तृत' किया है।[२२] उन्होंने 'तनु विस्तारे' (ऋ० १, २६, १) से इसे निष्पन्न माना है। इसके अन्य अर्थ उन्होंने धन,[२३] पुत्र,[२४] वस्त्र[२५] और दशा-पवित्र,[२६] भी दिये हैं। स्कन्द और वें०मा०[२७] के अनुसार इसका 'धन' अर्थ है।

विल्सन ने सायण का अनुसरण किया है। ग्रासमान के अनुसार इसका अर्थ 'संतान' (Spros) और पुत्र (Kind) हैं जो तन (शरीर) से संबंधित प्रतीत होता है। गेल्डनर ने इसका अर्थ सायण के आधार पर वाणी का विशेषण मानते हुए प्रवहमान या 'विस्तृत' (Fliebender) किया हैं।[२८]

'तना' शब्द 'गिरा' का विशेषण बनकर ऋग्वेद के अन्य मंत्र में भी आया है, जहाँ पर—'अच्छा वदा तना गिरा ये ब्रह्मणस्पतिम्[२९] कहा गया है जिसमें तना पर 'तनु विस्तारे' (तनोति देवतामाहात्म्यम् विस्तारयतीति तना) से निष्पन्न प्रतीत होता है। यह व्युत्पत्ति कुछ उचित प्रतीत होती है जो प्रस्तुत मंत्र में वाणी के विशेषण के रूप में आये हुए 'तना' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करती है। अन्य स्थलों में सायण, स्कन्द आदि के अनुसार धन, पुत्र और वस्त्र आदि अर्थ भी सम्भाव्य हैं, किन्तु सभी स्थलों में 'तना' की निष्पत्ति 'तनु विस्तारे' से ही संभव है। सायण ने 'तना' के जो 'धन' पुत्र,

---

२०. **Siddheshwer Varma**, Ety. of Yaska, Hoshiarpur, 1953, P.312

२१. ऋ० १.३.४; २६.६; ३८. १३; ३९.४; ७७.४; २.२.१; ३.२५.१; २७.९; ६.४६. १३; ७.१०४.१०; ११; ८.२५२; ४०.७; ६४.५; ९.१.६; १६.८; ४३.१; ५२.२; ५८.४; ६२.२; १०.५०.६; ९३.१२; १४८,१।

२२ वहीं १.७८.४; १०.५०.६.

२३. वहीं ३.२५.१.

२४. वही ९.१६.८; ५८.४.

२५. वहीं ९.३४.१; ७१.२१.

२६. ऋ० भा० स्कन्द १.७७.४.

.२७ Woert zum, RV p. 579.

२८. ऋ० १.३८.१३.

२९. ऋ० [illegible]

वस्त्र आदि अर्थ किये हैं उनमें तन् (विस्तार करना या होना) धातु का मूल अर्थ ही विद्यमान प्रतीत होता है क्योंकि धन, पुत्र, वस्त्र आदि सभी विस्तार के द्योतक हैं। धन से विस्तार या समृद्धि का, पुत्र से कुल का विस्तार, द्योतित होता है। वस्त्र स्वयं विस्तार सूचक है।

समिधानम्—

इस पद की आवृत्ति ऋग्वेद में १३ बार हुई है।[३०] सायण ने सर्वत्र इसकी व्याख्या 'समिध्यमानम् सम्यग्दीप्यमानम् की है। वें०मा० के अनुसार भी इसका अर्थ 'दीप्यमानम् है। ग्रासमान, गेल्डनर आदि ने भी इसे सम् उपसर्ग पूर्वक 'इन्ध' धातु से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ 'प्रदीप्त' या 'जला हुआ (Entflommt) किया है।

सुप्रसयम्—

ऋग्वेद में 'प्रयस्' शब्द ६६ बार आया है तथा 'प्रयस्' का 'सु' उपसर्गपूर्वक यह रूप ३ बार आया है।[३१] अन्य रूपों में 'प्रयसः', प्रयस्वान्' आदि हैं। संभवतः दुर्ग[३२]के आधार पर सायण ने 'प्रयस् का अर्थ सवत्र अन्न किया हैं। वे० मा० ने भी यही अर्थ माना है।

पाश्चात्य व्याख्याकारों में रोठ ने इसका अर्थ अच्छी प्रकार से खिलाया गया' (Sich gutlich theund) किया है।[३३] विल्सन और ग्रिफिथ ने 'सुप्रयसम्' का अर्थ 'सुपालित' (nobly fed) किया है। गेल्डनर ने भी यही अर्थ (wohlbe-kostigter.—nobly fed) किया है। ओल्डेनबर्ग और ग्रासमान के अनुसार इसका अर्थ 'अच्छे उपहारों का प्राप्तकर्ता' है।

सायण ने एक मंत्र में 'प्रयस्' शब्द को 'प्रीङ् तर्पणे' धातु से असुन् प्रत्यय सहित निष्पन्न माना है।[३४] इसके अनुसार प्रयस्' शब्द का मूल अर्थ 'जो प्रीतिकर या तृप्तकर हो' हो सकता है। सायण ने 'प्रयस्' को 'हवि रूप अन्न' सम्भवतः इसी आधार पर माना है।[३५] इस प्रकार 'प्रयस्' किसी प्रकार की खानपान सम्बन्धी वस्तु के लिए प्रयुक्त है। अन्यत्र अनेक मन्त्रों में प्रयुक्त यह शब्द प्रस्तुत अर्थ के बोध में सहायक जान पड़ता है।

---

३०. Woert zum RV. P. 1482.

३१. ऋ० २.२.१; ४.१; ६.११.४.

३२. निरु० भा० २.१३.

३३. St. Pt. San. Woert. Pt. 7, P. 1084.

३४. Woert. zum RV. P. 1541.

३५. ऋ० २.१६.१.

(१) अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनां सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम् —ऋ० १,५८,७

(समस्त धनों के प्रकाशक या प्रापयिता अग्नि की हविलक्षण अन्न से पूजा करता हूँ और रत्न की (या 'रमणीय कर्मफल की'-सायण के अनुसार) याचना करता हूँ)।

(२) ऋभुमन्तं वाजवतं त्वा कवे प्रयस्वन्त उपशिक्षेम धीतिभिः—ऋ० १.६० ३
(प्रकाशवान्, बलवान् तुमको, हे मेधावि ! अन्नवान हमलोग स्तुतियों द्वारा (या सायण अथवा यास्क के अनुसार 'अंगुलियों' द्वारा) दान करते हैं)।

(३) प्र यद्वयो न स्वसराण्यच्छा प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्त—ऋ० २ १६.२

(जिस प्रकार सायंकाल में (सायण के अनुसार 'कुलाय') पक्षीगण गमन करते हैं उसी प्रकार नदियों का 'पयस्' या 'जल' (सायण के अनुसार 'अन्न रूप जल') प्रवर्तित होता है।

(४) अपाय्यस्यान्धसो मदाय मनीषिणः सुवानस्य प्रयसः—ऋ० २.१६.१

(मनस्वी यजमान के अभिषुत सोमरस का मद के लिए पान किया)।

(५) अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः—ऋ ३.११.७.

(हवि का दाता मनुष्य (सा० के अनुसार यजमान) वाहक अग्नि द्वारा अन्न को या प्रयस् रूप सोम को प्राप्त करता है ।

(६) पिबा सुतस्यान्धसो अभि प्रयः—ऋ० ५.५१.५.

(अभिषुत सोम के 'प्रयस्' या रस का (सा० के अनुसार अन्न का) पान करो)।

(७) निम्नं न यन्ति सिन्धवोऽभि प्रयः—ऋ० ५.५१.७.

(जिस प्रकार नदियाँ निम्न प्रदेशों को जाती हैं उसी प्रकार 'प्रयस्' या सोमरस तुम दोनों (इन्द्र और वायु तक जाता है)।

(८) अच्छा नो याह्य वहाऽभि प्रयांसि वीतये। आ देवान्त्सोमपीतये ॥ ऋ० ६.१६ ४४.
(हे अग्नि हम तक आओ और हविरूप अन्न के स्वादनार्थ अवथा सोमपान के लिए देवताओं को यहाँ लाओ)।

(९) अभि प्रयांसि सुधिता वसो गहि—ऋ० ८.६०.४.

(हे वासक अग्नि सुनिहित सोमरस (सा० के अनुसार 'अन्न') के पास जाओ)।

(१०) अथा भर श्येनभृत प्रयांसि—ऋ० ६.८७.६.
(श्येन द्वारा आहृत सोमरस (सा० के अनुसार 'अन्न') को लाओ)।

उपर्युक्त समस्त मंत्रों में 'प्रयांसि च नदीनां', 'प्रयांसि वीतये', 'प्रयांसि सुविता' 'श्येनभृत प्रयांसि', सुवानस्य प्रयसः', आदि अंशों से ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रयस्' 'सोमरस' अथवा 'जल' का पर्याय है। किन्तु 'प्रयांसि' के साथ 'वीतये' (ऋ० ६.४४.४) पद इस अर्थ का बाधक प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ क्रियापद 'वी' धातु 'गतिव्याप्ति-कान्ति खादनादिषु'[३६] अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यहाँ पान अर्थ में न होकर 'अशन (भोजन) या 'खादनादिषु' (खाने अर्थ में प्रतीत होता है। साथ ही 'सुधित' 'सुहित' या 'हितम्, आदि विशेषण 'हवि' का अर्थ द्योतित करते हैं जैसा कि निम्नलिखित मंत्रांशों में है—

(१) हव्या नो वीतये गत;[३७] (२) प्रति हव्यानि वीतये;[३८] (३) गन्तो हविषो वीतयेम,[३९] (४) वायवा याहि वीतये जुषाणो हव्य दातये।[४०]

इन सभी मंत्रांशों में 'वीतये' पद का सम्बन्ध 'हवि' से है जो 'हवि भक्षण के लिये' अर्थ का द्योतन करता है किन्तु कुछ मंत्रों में 'वीतये' का सम्बन्ध गव्यादि से है जो 'हवि' के अतिरिक्त है :—

(१) अभि गव्यानि वीतये;[४१] (२) मदं मंहिष्ठ वीतये[४२]

इन दोनों उदाहरणों के साथ यदि (१) प्रयांसि सुवितानि वीतये[४३] (२) अभि प्रयांसि वीतये,[४४] (३) आ त्वा जुवो रारहाणा अभि प्रयः वायो वहन्तु इह पूर्वपीतये[४५] आदि मंत्रांशों को रखें तो 'वीतये' का अर्थ वीतये के साथ 'पान करने के लिये' ही प्रतीत होता है।

दूसरा प्रश्न 'श्येनभृत प्रयांसि' का है। 'श्येनभृत' का सम्बन्ध ऋ० में केवल 'सोम' से सम्भव है, क्योंकि 'श्येन' केवल 'सोम' का आहरण करने वाला है—

(१) सोमः श्येनाभृतः सुतः,[४६] (२) श्येनो पदन्वो अभरत्परावतः[४७] (३) यंते श्येनश्चारुमवृकं पदाभरदरुणं मानमन्धसः[४८]-आदि मंत्रांश द्रष्टव्य हैं। इससे द्योतित

---

३६. वैदिक पदानुक्रम कोश, संहिता भाग पंचम खण्ड (होशियारपुर, १९६२) पृ० २९६४
३७. ऋ० ८ २०.१०; १६.
३८, वही ८.१०१.७.
३९. वहीं ७ ६८.२.
४०. वही ५.५१ ५.
४१. वही ९.६२ २३.
४२ वही ९.६.९.
४३. वही १.१३५ ४.
४४. वही ६.१६.४४.
४५. वही १.१३४.१.
४६. वही १.८०.२.
४७. वही ९.६८.६.
४८. वही १०.११४.५.

होता है कि 'प्रयः' का सम्बन्ध 'सोम' से है। एक मंत्र में 'प्रयस्' को 'चमकता हुआ' कहा गया है—'तनु प्रयः प्रत्नथा ते शुशुक्वनम्।[४९]इसी प्रकार 'सोम' को भी ज्योतिपूर्ण माना गया है—'एष सूर्यमरोचयत् पवमानो विचर्षणिः।[५०]इससे प्रतीत होता है कि 'प्रयस्' का अर्थ 'सोमरस' होना चाहिये। संभव है 'प्रयस्' का ही अवान्तरकालीन रूप यह 'प्रयस्' हो जो ,प्रयांसि च नदीनां[५१]जैसे स्थलों में 'जल' का वाचक है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में 'सुप्रयसम्' अग्नि का विशेषण है। अतः अग्नि भी 'शोभन जल युक्त' हैं क्योंकि इसी की गर्मी से वृष्टि होती है।

स्वर्णरम् (स्वःऽनरम्)—

यह सामासिक पद ऋग्वेद में आठ बार आया है।[५२]सायण ने इसकी व्याख्या यहाँ पर 'स्वर्गं नेतव्या यजमाना यस्य तादृशम्; यद्वा स्वरिति सत्तर्यायः स्तुतीनां नेतारः स्तोतारः, बहुस्तोतारम् इत्यर्थः (स्वर्ग में नेतव्य यजमान जिसके हों, उसके समान अथवा सभी स्तुतियों के नेता स्तोतागण, अर्थात् बहुत से स्तोता जिसके हैं) की है। अन्यत्र भी यही व्याख्यायें की हैं। वें० मा० ने इसका अर्थ 'सर्वमनुष्य' किया है, जो 'स्तोतारः' के समान है। सायण का अनुसरण करते हुये विल्सन ने इसका अर्थ 'बहुप्रशंसित' किया है। ओल्डेनबर्ग और ग्रिफिथ ने स्वर्गिक मानव' अर्थ माना है जो सायण के 'स्वर्गं' नेतव्या या यजमानाः' का अनुसरण प्रतीत होता है। गेल्डनर को इनके अर्थ पर सन्देह है; किन्तु उन्होंने इसका अर्थ सूर्य सम्बन्धी मानव' किया है, जो संभवतः यास्क के 'स्वर आदित्यो भवति' के आधार पर माना गया है। इस प्रकार सभी अर्थों में 'स्वर्गिक मानव' ही एक ऐसा अर्थ है जो प्रायः सबको स्वीकार है।

ऋग्वेद में 'स्वर्णरम्' पद इन्द्र, अग्नि उदक और आदित्य का विशेषण बनकर आया है। एक मंत्र में यह पद किसी विशेष व्यक्ति के लिये आया है जहाँ पर इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह 'स्वर्णरम्' की रक्षा करे (प्र आवः स्वर्णरम)।[५३] ऋग्वेद में को स्वर शब्द 'सूर्य और 'स्वर्ग' का पर्याय है तथा अग्नि को सूर्य का रूप माना गया है।[५४]ब्राह्मणों में 'स्वर' को प्रजापति-द्युलोक आदि कहा गया है।[५५]इस प्रकार अग्नि

---

४९. वही १.१३२.३.
५०. वही ९.२८.५
५१. वही २.१३.२१.
५२. वही २.२.१; ५.६४.१; ६.१५.४; ८.३.१२; १२.२; १९.१; ९.७०.१६; १०.६५.४.
५३. ऋ० १०.६५.४.
५४. निरु० २.१३.
५५. षड्विं० ब्रा० ३.७, गो० ब्रा० पू० भा० ५.१४.
किन्तु वहाँ भी 'स्वर्गगामी मनुष्य' अर्थ संभव है.

'स्वर्णरम् की संज्ञा इसलिए दी गई है कि सूर्य प्रजापति, द्युलोक आदि सभी का प्रतीक है। किन्तु प्रस्तुत मंत्र में 'द्युक्षम्' (द्युनिवासिनम्-सायण के अनुसार) पद से यहाँ स्वर्णरम् सूर्य का पर्याय है जो अग्नि का ही एक रूप है।

द्युक्षम् —

ऋग्वेद में इस पद की आवृत्ति ६ बार हुई है।[५६] सायण ने इसका अर्थ यहाँ पर 'द्युनिवासिनम्' किया। वें० मा० के अनुसार इसका अर्थ यहां पर 'दीप्त' है। रॉथ[५७] और ग्रासमान[५८] दोनों ने इन दोनों अर्थों को माना है। इसलिये उन्होंने इसका अर्थ 'स्वर्गिक' (Himmelisch) 'प्रकाश' (licht) और 'प्रकाशित' या 'दीप्त' (glanzend) किया है। विल्सन, ओल्डेनवर्ग, गेल्डनर और ग्रिफिथ ने यहाँ पर सायण का अनुसरण किया है।

'द्युक्षम्' पद में 'द्यु' और क्षम्' अलग किए जा सकते है।'क्षम्' की निष्पत्ति 'क्षि निवासगत्योः'[५९] से हो सकती है, जिससे इसका अर्थ 'निवास करने वाला' या 'गमन करने वाला' संभव है। 'द्युक्षम्' के पूर्व 'स्वर्णरम्' पद है, जो सूर्य का विशेषण है, जिससे 'स्वर्ग' का निवासी या 'स्वर्ग में गमन करने वाला' अर्थ निकलता है : सूर्य 'द्युनिवासी है, जो प्रस्तुत मंत्र में अग्नि के साथ साम्य रखता है।

वृजनेषु -

ऋग्वेद में 'वृजन' शब्द के इस सप्तम्यन्त रूप की आवृत्ति आठ बार हुई है।[६०] सायण ने यहाँ पर इसे 'बलेषु' (बल में) अर्थ में माना है। अन्यत्र 'संग्राम' 'बल', 'उपद्रव' 'अरिष्ट', 'संग्राम', 'यज्ञ' आदि अनेक अर्थ किये है। निघण्टु[६१] में इसे 'बल' का पर्याय माना गया। उद्गीथ[६२] ने 'संग्राम' अर्थ माना है। वें० मा० ने यहाँ पर इसे 'यज्ञ' अर्थ में माना है। अन्य स्थानों में[६३] उन्होंने भी इसे 'संग्राम' और उपद्रव अर्थ में ग्रहण किया है

---

५६. ऋ १.१३६.२; ६; २.२.१; ५.५६.२; ७.३१,८;६६६; ८८.२; ६.७.१.४; १०.१८५.१।

५७. St. Pt. Sans. Wert. Part. 3.

५८. Woert. zum RV. P. 940.

५९. सा० मा० १.१००.१६

६०. ऋ० २.२.१; ६; ३४.७; ६.६८.३; ७.६६.६; ६.७७.५; १०.२७.४; २८.३.

६१. मिघ० २६.७१.

६२ ऋ० मा० उदगीथ १०.७२.४ .

६३. ऋग० दीपि० मंत्र ६.६८.३, ७.६६. ६.

रोठ ने इसे 'वर्ज' धातु से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ 'संग्राम या 'उपद्रव' (umgehung), बाड़ा (Umfriedigter) और 'शक्ति सम्पन्न स्थान' (beferigter) किया है।[६४] विल्सन और ग्रिफिथ ने यहाँ पर सायण का अनुसरण किया है जिनका वृजन के सम्बन्ध में यह कथन है—

"वृजन means an enclosure, whether it be derived form वृज् to ward off, l ke arx from arcere. or from वृज् in the sense of clearing as in वृक्तवर्हिः (वर्हिः प्रवृञ्जे —ऋ० १.११६.१). In either case the meaning remains much the same, viz. a field, cleared for pasture or agriculture— a clearing, as it is called in America, of a camp. enclosed with hurdles or walls, so as to be capable of defence against wild animals or against enemies. In this sense, however, वृजन is a neuter while as a masculine it means powerful, invigorating [६५]

गेल्डनर ने इसे अवेस्तन 'वॅरॅज़ॅन' (Vərəzena) के समान मानते हुए इसका अर्थ यज्ञ' ही माना है। साथ ही उन्होंने इसे वृज, माया, स्त्री आदि शब्दों के समान गूढ़ भावो का द्योतक भी माना है।[६६] अन्यत्र उन्होंने सायण का अनुसरण करते हुये भी इसे संदिग्ध माना है। ग्रासमान[६७] ने सायण द्वारा किये गये सभी अर्थों को अपने कोश में स्थान दिया है।

ऋग्वेद में 'वृजन' और 'वृजिन्' दो शब्द समान रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों के मूल में 'वृजी वर्जने' धातु प्रतीत होती है। 'वृजिन्' शब्द जहाँ पर भी आया है वहां 'पाप कर्म' या असत् कर्म अथवा 'उस कर्म को करने वाले' के भाव का द्योतक प्रतीत होता है। 'वृजिन' वृज+इन च कित च (उ० सू० २ ४५-४६) से निष्पन्न है।[६८] महाभारत के एक श्लोक 'कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसा घुवत्'[६९] से स्पष्ट ही 'वृजिनम् का 'असाधुकर्म से सम्बन्ध प्रकट होता है। ऋग्वेद के 'अन्तः पश्यन्ति वृजिना उत साधु'[७०] (साधु और असाधु कर्म का परिप्रेक्षण करते है—सायण) अथवा 'पराय देवा

---

६४ Sr. Pt. San. Woert. part 6, P. 1312.

६५. SBE 32, P. 208.

६६. Vedische Studien, Band.I, P. 151.

६७. Woert. zum RV. P. 1399.

६८. सा० भा० ३. ३४. ६.

६९. महा भा० ३. ६०७. ४६ (पूना संस्क०).

७०. ऋ० ६.६.७२.

वृजिनम् श्रृण्वन्तु[७१] (हे देव पापादि कर्मों का हनन करो—सायण) अथवा 'ऋजु पवस्व वृजिनस्य हन्ता[७२] (ऋजु का क्षरण करो, तुम कुटिल के हन्ता हो)—आदि मन्त्रों से 'ऋजु' और 'वृजिन्' या 'साधु' और 'वृजिन्' दोनों के अन्तर का स्पष्टीकरण होता है। इस प्रकार ऋग्वेद में यह शब्द जहाँ पर भी आया है, सर्वत्र पाप, असत्कर्म कुटिलता आदि के भावों का ही द्योतक है। एक स्थान पर सायण ने 'वृजिनम्' का अर्थ 'बलम्' किया है।[७३] वहाँ पर 'वृजिनम्' के साथ 'ऋजु' भी है; जो 'वृजिनम' का विलोम प्रतीत होता है। इसलिए 'ऋजु च गातु वृजिनम् च देहि' मंत्रांश का अर्थ –हे सोम 'ऋजु' और कुटिल दोनों प्रकार के मार्गों का नयन करो', भी संभाव्य है। इस प्रकार 'वृजिनम्' सर्वत्र 'ऋजु' या 'साधु' के विलोम अर्थ में सम्भव हैं।

इसी के सन्दर्भ में हम ,वृजन' का विचार कर सकते हैं। 'वृजन' शब्द सर्वत्र 'वृजिन' के विपरीत अर्थ में प्रतीत होता है।इनके पूर्व कहा जा चुका है कि व्याख्याकारों ने इसे बल, संग्राम. उपद्रव, बज स्थान, घिरा स्थान या वाड़ा, यज्ञ आदि अर्थों में माना है। 'वृजन' को सभी व्याख्याकारों ने 'वृज' धातु से निष्पन्न माना है। 'वृज' धातु के अनेक अर्थ होते है, जो ये है[७४]—'दूर करना, त्यागना, शुद्ध करना, निकाल देना, मोड़ना, मुड़ना, वर्जित होना, नष्ट करना, उन्मूलन करना, काटना, छेदना आदि। इसलिए 'वृजन' शब्द के भी अनेक अर्थ सम्भव हैं। किन्तु जहाँ तक ऋग्वेद का प्रश्न है, वहाँ यह इतने अर्थों का द्योतक नहीं हो सकता। ऋग्वेद में इस शब्द के विभिन्न रूप वृजनाम्, वृजनस्य, वृजना, वृजनाः; वृजनानि, वृजनेषु, वृजनीषु, वृजने, वृजन्यस्य आये हैं, जिनके सायण ने ऊपर विवेचित अनेक अर्थ किये है। सायण की व्याख्यायें अनेक स्थलों में संगत और असंगत दोनों प्रतीत होती हैं।

(१) जरयन्ती वृजनम् पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः—ऋ० १. ४८.५.
यहाँ पर सायण ने ,उषा को जंगम प्राणिजात (वृजनम्) को वृद्धावस्था प्राप्त कराती हुई' कहा है। किन्तु 'वृजनम्' का अर्थ यहाँ—'अन्धकार भी संभव है, जिसमें सभी प्राणी घिरे होते हैं अर्थात् दिखाई नहीं पड़ते तथा उषा जिसका नाश करती हुई पक्षियों को उड़ाती है, जैसा कि उसे अन्यत्र 'बाधते तमो अजिरो न वोल्हा' कहा गया है।

(२) एषा यासीष्ट तन्वे वयाँ विद्यामेषं वृजनम् जीरदानुम्—ऋ० १.१६५.१५.
सायण के अनुसार इसका अर्थ स्तुतिकर्ता की इच्छा शरीर के लिए पूर्ण हो, हम लोग भी शीघ्र ही अन्न, बल और जयशील दान प्राप्त करते हैं-है। यहां

७१. वही १०.८७.१५.
७२. वही ९.४७ ४३.
७३. वही ६.४७.१३.
७४. सं० इं० डिक्०—मॉनियर विलियम.

सायण द्वारा दिया गया अर्थ उपयुक्त नहीं है। यहाँ 'वृजन' का अर्थ कार्य या 'बाड़ा' (घर) प्रतीत होता है।

(३) अतिस्रसेम वृजनम् नांहः—ऋ० ६.११.६
सायण के अनुसार इसका अर्थ 'शत्रु के समान पाप का अतिक्रमण करें' है। मंत्रान्तर में भी यही बात कही गई है—द्विषो अंहो न तरति (६.२.४) (शत्रु का पाप के समान तरण करता है) यहाँ 'वृजन' 'बाड़ा' (अन्धकार) अर्थ में है। साथ ही अरिष्ट अर्थ भी इसी के साथ संभव है जो 'अंहः' के साथ आया है—'ते नो अंहो अति पर्षन्नरिष्टान् (ऋ० ७.४०.४)। इसी प्रसंग में सायण ने एक स्थान पर इसका अर्थ 'बल' किया है—'प्र यज्ञमन्मा वृजनं तिराते'—ऋ० ७ ७१.४ (हे यज्ञ मन वाले, हमारे बल को वर्धित करो)।

एक अन्य शोध लेख में इस शब्द पर विस्तृत विचार करते हुए उसके संभाव्य अर्थों में कार्य, बाड़ा, नगर, कारागार, ग्राम, यज्ञस्थान को प्रदर्शित किया जा चुका है।[७५] इसे अवेस्तन 'वॅरॅज़ेना' (Vərəzəna) या वॅरॅज़ान (Vərəzāna) से संबंधित माना गया है, जो मध्य परशियन (पहलवी) में 'वरदान' (शहर या कस्बा) और नवीन परशियन में 'बर्जन' रूपों में दिखलायी पड़ता है जिसे हम संस्कृत 'वर्धन' और 'व्रज' के सन्निकट मान सकते हैं। वैदिक 'वृज' धा० इन्डो-यूरोपियन 'उरेज्' (Urez) धा० और ग्रीक 'eirghu' धातुओं का तादात्म्य स्थापित करने पर एवं इन्हीं से 'वृजन' की निष्पत्ति मानने पर 'वृजन' के अर्थ 'बाड़ा' कारागार, नगर, कार्य, ग्राम, यज्ञ स्थान आदि सम्भव हैं।

इस प्रकार इन शब्दों पर विस्तृत विवेचन के पश्चात् प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार दिया जा सकता है—

'उत्पन्न होते ही सबको जान लेने वाले अग्नि को यज्ञ के द्वारा वर्धित करो औ विस्तृत वाणी (स्तोत्रों, मंत्रों) एवं हवि द्वारा उसका यजन करो। वह अग्नि सम्यक् दीप्तिमान, सुन्दर भोगयुक्त, तेजस्वी, द्युलोक में रहने वाला, होतृस्वरूप और घिरे हुए स्थानों (संग्रामों या यज्ञों में) अपनी धुरी बनाकर बैठने वाला है।'

———

७५. द्र० उपर्युक्त ऋग्वैदिक वृजन और अवेस्तन वॅरॅज़ान.

ऋग्वेद में 'मन्द्र' शब्द : एक नवीन व्याख्या

ऋग्वेद में 'मन्द्र' शब्द अनेक रूपों में बहुत बार आया है। इसका सम्बन्ध प्राय: अग्नि के साथ है, किन्तु कुछ स्थानों में यह सोम (ऋ० ६.६०.२०; ६५.२३; ६७.१; ६८. ६; ६६. ७; १०६ ८; १०), इन्द्र (६.४८.४; १०.७३.१) मरुत् (१. १६६.११), इन्द्र के अश्व (३.४५ १), वाक् (८.१००.११; १०; १०२.२; ७.१८.३), धारा (६ ६ १; १०७.८), बृहस्पति (४.५० १), नक्तोषासा (१.१४२ ८) और विश्वेदेवा: (१०.६३ ४) के लिये भी प्रयुक्त है। अग्नि के लिये 'मन्द्रस्य' (३.२४; ६ ७; ६. ३६.१) और 'मन्द्रजिह्व' (१. १६.७; ४.११.५; ५.२५.२, का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। एक बार सवितृ को भी 'मन्द्रजिह्व' (६.७१.४) कहा गया है, जहाँ यह सूर्यरश्मियों का परिचायक प्रतीत होता है। इस शब्द के सूक्ष्म अनुशीलन के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भकाल में इसका प्रयोग केवल अग्नि के साथ होता था और अवान्तरकाल में देवशास्त्र के विकास के साथ अन्य देवताओं के साथ भी यह प्रयुक्त होने लगा। अग्नि के समान अनेक देवताओं के गुणों का भी एक दूसरे में साम्य होना इस बात का प्रमाण है।

सायण ने ऋग्वेदभाष्य में इसके दो मुख्य अर्थ — 'मदनीय या मादयिता' और 'स्तुत्य या प्रशंसनीय' किये हैं। इन्हीं अर्थों का विस्तार विभिन्न सन्दर्भों में अनेक प्रकार से देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ सायण द्वारा दिये गये अन्य अर्थ—'आनन्द-दायक, हर्षक, मद-युक्त स्तुति करने में कुशल' आदि हैं। किन्तु अधिकांश रूप से सायण ने 'आनन्दप्रद' या 'आनन्दित' अर्थ को ही वरीयता दी है। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने यास्क द्वारा की गई 'मन्द्रजिह्वम्' की व्याख्या 'मोदमानजिह्वम् इति वा'[1] के 'मोदमान' अर्थ को ध्यान में रखकर मन्द्र—की व्याख्यायें की हैं। किन्तु 'मन्द्र:' का अर्थ 'स्तुत्य:' कैसे किया, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवत: उन्होंने मन्द्र—की 'मन्द्' धा० को 'स्तुति करने' अर्थ में मानकर निष्पत्ति की है।[2] कुछ स्थानों में

---

१. निरुक्तम्—६.२३.

२ द्रष्टव्य, सायण, ऋ० भा० १.१२२.१३ जहाँ पर सा० ने 'मन्दामहे' की व्याख्या 'स्तुमो वयम्' की है और इसे 'मदि स्तुतौ' का लट्, उ० पु० ब० व० का रूप कहा है।

उन्होंने मन्द्र की निष्पत्ति मद् धा० से उणादि प्रत्यय 'रक्' (स्फायितञ्चिवञ्चि……" उणा० सू० ५.२.१३) द्वारा नुम् के आगम के साथ की है। इस आधार पर उदात्त स्वर प्रत्यय पर होगा।

रोठ[3] और ग्रासमान[4] ने सायण का अनुसरण करते हुये इसका अर्थ 'आनन्द-दायी' (erfreuend), 'सुखकर' (angenehm), 'प्रिय, (lieblich) आदि किया है। उन्होंने इसकी निष्पत्ति मन्द् धा० से की है। लुडविग ने इसका अर्थ 'प्रसन्न, प्रसन्नतापूर्ण' (freudigen) किया है,[5] जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने इसे 'मदी हर्षे' से निष्पन्न माना है। ग्रिफिथ[6] द्वारा किया गया इसका अर्थ 'मित्रतापूर्ण' (friendly) उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। ओल्डेनवर्ग[7] द्वारा किया गया अर्थ 'प्रसन्नतादायक' (delightful) अन्य लोगों का अनुसरण मात्र है। मरुतों के वेग से उत्पन्न ध्वनि के सन्दर्भ में मैक्स म्यूलर[8] ने इसका अर्थ 'मधुर ध्वनि वाले' (sweet toned) किया है, किन्तु यह अर्थ खींचातानी द्वारा ही लाया गया है। यह कोई आवश्यक नहीं कि मरुतों की ध्वनि मधुर ही हो; अन्यथा भी हो सकती है। अतः उनके सन्दर्भ में 'मन्द्रः' का अर्थ भिन्न भी हो सकता है। गेल्डनर ने भी मै० म्यू० द्वारा किये गये अर्थ का अनुसरण करते हुये इसका अर्थ 'मधुर वाणी या शब्द वाले का' (des wohlredenden) किया है[9]; किन्तु अन्यत्र (६.३६ १) उन्होंने भी सोम के सन्दर्भ में इसका अर्थ 'आनन्द-दायक' (erfreuendent) किया है[10]। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने मै० म्यू०, रोठ, ग्रासमान आदि द्वारा किये गये अर्थों का उपयोग विभिन्न स्थलों पर आवश्कतानुसार किया है। लुई रनू ने भी इन्हीं अर्थों का अनुसरण करते हुये 'मन्द्रस्य' (३.२ ४) का अर्थ 'हर्षित, (rejoissant) किया है[11]। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी व्याख्याकरों ने इसे मन्द्→मद् (हर्षित होना) धातु से निष्पन्न माना है और इसी के अनुरूप इन लोगों ने इसका अर्थ भी किया है।

आधुनिक भारतीय व्याख्याकारों में प्रोफे० एच० डी० वेलणकर ने इसका अर्थ 'सुखद' (delightful) किया है,[12] जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने कोई नवीन योगदान

---

3. Sans. Woert.
4. Woert, zum RV. P. 1003.
5. Hymnen der Brah. Band I, P. 329.
6. Hymns. of the RV. I, P. 318.
7. SBE. 46, P. 228.
८. वही, भा० ३२, पृ० २१०.
9. Der RV. Uebersetz. I, P. 336,
१०. वही, भा० २, पृ० १३५.
11. Etude Vedique et. P. I. P. 51.
१२. ऋग्वेद तृतीय मण्डल (अनु०) पृ० ८, २१, ३२, ३७ इत्यादि.

इसके अर्थ के सम्बन्ध में नहीं किया। प्रोफे० एस० एस० भावे[१३] ने एक नितान्त नयी सूझ का परिचय देते हुये इसकी व्याख्या की है। उनके ही शब्दों में—

"mandraḥ (=mādayitāram, according to Sāyaṇa) can better be derived from √man+ra with development of a voiced unspirate infix, viz.—d—in between, meaning 'the thoughtful one'."

उनके अनुसार मन् और र के मध्य द् का आगम भारोपीय भाषाओं की एक सामान्य गतिविधि है[१४]। किन्तु मेरी दृष्टि में मन्द्र को 'मद्' धा० से निष्पन्न करना ही सार्थक प्रतीत नहीं होता, और साथ ही 'द्' के आगम की इसमें कोई आवश्यकता भी नहीं लक्षित होती, क्योंकि अनेक वैदिक धातु समूहों के साथ 'र' प्रत्यय बिना किसी आगम के सीधे धातु के साथ प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ हम यहाँ इन शब्दों को ले सकते हैं, जैसे—चित्र (चित्+र; अवेस्तन–चिथ्र), क्षिप्र (क्षिप्+र; अवेस्तन क्ष्विव्र 'तीव्र'), क्षुद्र (क्षुद्+र; अवे० क्षुद्र 'वीर्य')· गृध्र (गृध्+र; अवे० गॅरॅध्र), चन्द्र (श्चन्द्+र' लेटिन candere), नम्र (नम्+र), भद्र (भन्द्+र अवे० बद्र) विप्र (विप्+र; अवे० विफ्र), शुक्र (शुच+र; अवे० सुख 'प्रकाशित), तन्द्र (तन्द्+र), तुग्र, (तुज+र), मथ्र,[१५] (मथ्+र), रध्र (रध्+र), रुद्र (रुद्+र); सिध्र (सिध्+र) आदि[१६] ये सभी शब्द इस बात के द्योतक हैं कि 'र' प्रत्यय के साथ किसी आगम की आवश्यकता नहीं है। ऋग्वेद और अवेस्ता दोनों में समान रूप से इसका उपयोग सीधे धातु के साथ हुआ है। साथ ही अनेक धातु रूप, जैसे मन्दन्तु (ऋ० १.१३४.२;२.११), मन्दतु (६,१७.३,७.२२.१), मन्दस्व (३.३०.२०;५०.४), मन्दयध्यै (४.२९.३), मन्दयन् (६६७.११), मन्दसे (१.५.१.१२;८.१२.१६ मन्दामहे(१.१२२.१३) इत्यादि इस बात के संकेतक हैं कि ऋग्वैदिक काव्य में 'मन्द्' धातु का प्रयोग ऐसे शब्दों की निष्पत्ति में बहुलता से होता था। अतः 'मन्द्र' इसी से निष्पन्न शब्द हो सकता है, इसमें कोई संशय नहीं। धातु पाठ (२.१२) में इस धातु के जो अनेक अर्थ आकलित हैं उनमें 'प्रसन्न होना' रस लेना' आनन्दित होना, प्रशंसा करना, मदहोश करना, सुख लेना-देना, प्रज्वलित करना, उत्साहित करना, आदि हैं। इन्ही अर्थों को व्याख्याकारों ने मन्द्र की व्याख्या करते समय ध्यान में रखा है। निघण्टुकार ने कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण अर्थों को भी संकलित किया है[१७], जिनकी ओर व्याख्याकारों का ध्यान नहीं गया है। उन

---

१३. Soma Hymns Pt. I, P. 121; 146.

१४. वही, पृ० १४६.

१५. ऋ० ८.४६.२३ में केवल एक बार आया है.

१६. विस्तार के लिये द्रष्टव्य वाकरनागेल—डेब्रूनर, आल्ट इण्डिशे ग्रामाटीक, भाग २. (ii) पृ० ८४६.

१७. निघण्टु १.१६.

अर्थों में 'सुन्दर होना, प्रकाशपूर्ण होना, चमकना' जैसे अर्थ ऋग्वैदिक सन्दर्भों में बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन अर्थों का उपयोग यदि व्याख्याकारों ने किया होता तो मन्द्र की व्याख्या अधिक उपयुक्त हो सकती थी। अग्नि तथा अन्य देवताओं के संदर्भों में ये अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। इधर प्रोफे० यान् खोंदा ने एक स्थान पर[18] मंद्र' का अर्थ 'आकर्षक' (charming) किया है, यद्यपि उसकी कोई विशेष व्याख्या नहीं दी; फिर भी प्रकाशपूर्ण, सुन्दर, आकर्षक' जैसे अर्थों को 'मंद्र, के साथ संलग्न करने से सभी संदर्भों में इसकी संगति बैठती है। निघण्टु से पूर्व यही अर्थ प्रचलित रहे होंगे जिन्हें निघण्टुकार ने अपनी अगली पीढ़ी के लिये संकलित किया है। इस प्रकार अग्नि और सोम मंद्र, मंद्रतम, मंद्रजिह्व (सुन्दर प्रकाशपूर्ण) और कविगण 'मंद्रयु' (प्रकाश या सौंदर्य पाने की इच्छा वाले) कहे जा सकते हैं और इनसे 'मंद्र' की 'प्रकाशित सुन्दर, चमकदार आकर्षक' आदि अर्थों की सिद्धि भी होती हैं। सभी संदर्भों में इन अर्थों को नियोजित करने से उपयुक्त संगति भी बैठती है हैं।

———

18. Epithets in the RV. P. 148.

ऋग्वैदिक 'शिप्र' : एक नवीन व्याख्या

१ उद्देश्य—कोशकारों की भाँति ऋग्वेद के व्याख्याकारों ने भी एक ही शब्द के अनेक अर्थ एक ही संदर्भ में अथवा विभिन्न संदर्भों में किये हैं। ऋग्वेद के विद्यार्थियों एवं अध्येताओं के समक्ष यह विचित्र समस्या बन जाती है कि एक ही शब्द के अनेक अर्थ क्यों किये गये तथा ये अर्थ अन्योन्याश्रित है और उपयुक्त हैं अथवा इनकी अर्थवत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाये जा सकते हैं या नहीं। प्रस्तुत अनुसंधान पत्र में 'शिप्र' शब्द के विभिन्न अर्थों की गवेषणा एवं ऋग्वेद के प्राच्य तथा पाश्चात्य व्याख्याकारों द्वारा दिये गये अर्थों की परीक्षा कर उपयुक्त अर्थ-निर्धारण का प्रयास किया जा रहा है।

२ शब्द की आवृत्तियाँ—ऋग्वेद में 'शिप्र शब्द विभिन्न रूपों एवं लिङ्गों में ५२ बार प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र को १२ बार 'शिप्रिन्' कहा गया है[1]; एक बार 'शिप्रवन्त[2]; एक बार शिप्रिणीवन्त[3]; १७ बार सुशिप्र[4]; २ बार हरिशिप्र[5] और एक बार 'हिरिशिप्र[6]। शिप्रे,[7] और शिप्राभ्यास,[8] जैसे द्विवचनान्त रूप भी इन्द्र के साथ प्रयुक्त हुये हैं। अग्नि को 'सुशिप्र,[9] तथा 'हिरिशिप्र,[10] कहा गया है। 'सुशिप्र' विशेषण रुद[11] और ऋभुक्षण के लिये प्रयुक्त है। मरुद्गणों की प्रार्थना उन्हें हिरण्यशिप्राः[12] कहकर की गई हैं और ऋभुओं का आह्वान 'अयः शिप्र[14], कहकर किया

---

१. ऋ० १.३०.११;८१.४;३.३६ १०; ५.५४.११;६.४४ १४;७.२५.३;८.१.२७; १७.४;३२.२४;३३.७;६१.४;९२.४.

२. ऋ० ६.१७ २.

३. ऋ० १०.१०५.५.

४. ऋ० १.९.३;१०१.१०; २.१२.६; ३.३०.३;३२.३; ५०.२;६.३६.५;४६.५; ७.२४.४;८.२१.८; ३२.४; ६६.२;४;६९.१६;९३.१२;९९.२.१० ९६.३.

५. ऋ० १०.९६.४; १२.

६. ऋ० ६.२९.६.

७. ऋ० १.१०१.१०; ३.३२.१; ५.३६.२;८७.६;१०.९६.९.

८. ऋ० १०.१०५.५.

९. ऋ० ५.२२.४.

१०. ऋ० २.२.५.

११. ऋ० २.३३.५.

१२. ऋ० ७.३७.१.

१३. ऋ० २.३४.३.

१४. ऋ० ८.३७.४.

गया है। यतियों (संभवत. गायों) को 'शिप्रिनं[15], कहा गया है। विशिशिप्र[16], वृप शिप्र[17], और दशशिप्र[82], कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ ऋ० में प्रयुक्त हुये हैं।

३. परम्परागत व्याख्यायें—ऋग्वेद की व्याख्या के उद्भव काल से ही 'शिप्र' की व्याख्या विवादास्पद रही है। परम्परया प्राप्त व्याख्याओं में प्रथम यास्काचार्य के निरुक्त[19] में प्राप्त होती है, जहाँ दो व्याख्यायें (१) 'हनु' और नासिका दी गई हैं, जिनका अनुसरण अवान्तरकालीन परम्परागत व्याख्याकारों द्वारा किया गया है। इन व्याख्याकारों में स्कन्दस्वामी[20] ने एक अन्य अर्थ 'शिरस्त्राण' या 'उष्णीष' भी दिया है। यह अर्थ उनके बाद के व्याख्याकारों माधव[21], वेंकटमाधव[22] और सायणाचार्य द्वारा अनुसृत किया गया।

४. ऐतिहासिक व्याख्या—हम यहाँ पाश्चात्य व्याख्याकारों की परम्परा को 'ऐतिहासिक स्कूल' (Historical School of Interpretation) नाम दे रहें हैं। उपर्युक्त तीन अर्थों हनु, नासिका, उष्णीष—के अतिरिक्त पाश्चात्य व्याख्याकारों ने कुछ अन्य अर्थों का सुझाव देकर 'शिप्र' के अर्थ का अधिक स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। ब्योहर्टलिंक (Boehtlingt) और रोठ (Roth) ने इसके अर्थों का आकलन 'गाल' (Backe), गाल के भाग (Backestuecke), 'शिरस्त्राण' am helm) 'अश्व की रश्मि या लगाम' (am zuegel der Rosse) और 'नासिका' (Nase) किया है।[24] ग्रासमान (Grassman) ने द्विवचन रूप में इसका अर्थ 'मुख का ऊपरी और नीचे का गतिमान भाग, और विशद अर्थ में 'पान करते हुये या चुसकी लेते हुये

---

१५. ऋ० १.३०.११.
१६. ऋ० ५.४५.६.
१७. ऋ० ७.६९.४.
१८. ऋ०८.५२.२.
१९. निरु. ६. १७.
२०. ऋगवेद भाष्यम् ६. ४६. ५. (अड्यार लाइब्रेरी, माद्रास, १९३५).
२१. ऋगवेद व्याख्या (माधवकृत) मद्रास १९३९.
२२. ऋगर्थ दीपिका ४ भाग, डॉ० लक्ष्मण सरूप द्वारा सम्पादित, लाहौर १९३९-५५; ऋगवेद संहिता ७ भाग, विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियारपुर (पंजाब), १९६४.
२३. ऋगवेद संहिता ४ भाग (सायणभाष्य सहित) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३९-५५.
२४. Sans, Woert.

ओष्ठ और बहुवचन में इसका अर्थ 'उष्णीष का ऊर्ध्वभाग' du die beweglichen theil, welche den Mund von unten oben umgeben, Lippen in ausgedehnterem Sinne, die trinkenden; Schluerfenden Lippen; 2 plur, das Visier am Helme vgl. ayah sipra)[२५] किया है। लुडविग (Ludwig) ने इसका अर्थ 'जबड़ा' (Kiefer) देते हुये उष्णीष का ऊर्ध्वभाग (Visier Helmstuecke) अर्थ को भी स्वीकार किया है।[२६] हिलेब्रान्ड्ट ने 'जबड़ा' अर्थ का अनुसरण किया है।[२७] बेर्गेन्य (Bergaigne) ने 'गालों' अर्थ को स्वीकार करने का सुझाव दिया है,[२८] किन्तु 'जबड़े' अर्थ पर उन्होंने सन्देह व्यक्त किया है। गेल्डनर (K. F. Geldner) के अनुसार 'शिप्र' सभी स्थितियों में 'मुख के भाग' या 'चेहरा' अर्थ का द्योतन करता है और इसी सन्दर्भ में 'उष्णीष' (Helm visier) अर्थ भी स्पष्ट है। इन अर्थों के अतिरिक्त उन्होंने अन्य अर्थों—जैसे, 'ओष्ठ, विशद् अर्थ में' (n. du Lippe in Weiterem Sinn)[३०], 'मूँछ या दाड़ी (Schnurrbart, Bart[३१] और 'केश' (Haar)[३२] का भी संकलन किया है। शार्पेन्तिए (Charpentier) ने इसका अर्थ 'वाल' और 'उष्णीष' स्वीकार किया है।[३३] यालमान फ्रिस्क (Hjalman frisk) ने बहुत विवाद के पश्चात् इसका अर्थ पूँछ के समान झूलती हुयी कोई चीज' (Something wagging like tail' Schweif') निर्धारित किया है और साथ ही 'मूँछ '(Schnurrbart) अर्थ को भी स्वीकार किया है।[३४] मैक्स म्यूलर ने इस विवाद पर तार्किक दृष्टि से विचार करते हुये कहा है कि 'शिप्र' (द्वि० में शिप्रे) 'जबड़ों-ऊपर और नीचे के लिये—प्रयुक्त हुआ है और बहुवचन में (शिप्राः) इसका प्रयोग शीर्ष पर पहनी जाने वाली किसी वस्तु, जो स्वर्ण-सूत्रों (gold threads) से निर्मित हो,' के लिये हुआ है। उन्होंने रोठ के विचार-'हरिशिप्र-पीले जबड़े' और 'हिरण्यशिप्र-'स्वर्णिम गाल या स्वर्णिम उष्णीष' का खण्डन किया है। उनके अनुसार 'स्वर्णिम जबड़े वाला' और 'स्वर्णिम उष्णीष धारी' अर्थों के मध्य निर्णय करना कठिन

---

२५. Woert. Zum Rv. P. 1394.

२६. Kommentar Zur RV. Band I III, Prag. 1876.

२७. Vedische Mythologie. see Rv. III. 32. trans.

३१. Vedische Studien, Band II, P. 39.

३२. Zeitschrift fuer Vergleischend Sprachforschung Begruendet, Von A. Kuhn, Goettingen, Vol, 46, P. 26.

३३. Loc. cit.

३४. Le Monde Oriental 30, P. 87-89.

है, फिर भी 'स्वर्णिम जवड़े वाला' अर्थ सभी सन्दर्भों में उपयुक्त प्रतीत होता है।[३५] किन्तु मैक्स म्यूलर का तर्क भी दोषों से रहित नहीं है, जैसा आगे आने वाली चर्चा से स्पष्ट होगा। ओल्डेनबर्ग ने मैक्सम्यूलर द्वारा दिये गये अर्थों का सर्वत्र अनुसरण किया है।[३६]

५. उपयुक्त अर्थ के चयन में कठिनाइयां —

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक शब्द के लगभग एक दर्जन अर्थ किये गये हैं, और वे सभी विवादास्पद हैं। इन अर्थों में से किसी एक ऐसे अर्थ का चयन करना, जो सभी सन्दर्भों में उपयुक्त हो, कठिन है। इस प्रकार, यदि हम किसी एक अर्थ की सुनिश्चित उपलब्धि नहीं करते तो हमें एक से अधिक अर्थों को स्वीकार करना पड़ता है, जो निश्चय ही हमें अनिश्चय की ओर अग्रसर करते हैं। इस स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है—'क्या एक शब्द शरीर के विभिन्न अङ्गों का संकेत कर सकता है और साथ ही अन्य अर्थों का द्योतक भी हो सकता है'? अतः किसी एक ऐसे अर्थ का अनुसन्धान करना, जो सभी सन्दर्भों में उपयुक्त हो, समीचीन होगा।

६. व्याख्याओं की समीक्षा प्रारंभ में हम परम्परागत व्याख्याओं 'हनु, नासिका, उष्णीष; जो यास्क आदि द्वारा दी गई हैं, समीक्षा करें। ये अर्थ उन सन्दर्भों में उपयुक्त हो सकते हैं, जहाँ शिप्र' का प्रयोग किसी देवता के विशेषण मात्र (epithet) के रूप में प्रयुक्त हुआ है; जैसे 'शुशिप्र', हिरिशिप्र', हरिशिप्र-आदि। किन्तु उन सन्दर्भों में जहाँ इसके माध्यम से किसी क्रियाकलाप का संकेत है, ये अर्थ सही भाव को द्योतित करने में असमर्थ प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, हम ऐसे सन्दर्भों को लें, जैसे-वनोति शिप्राभ्यां शिप्रिणीवान्[३७]', ''इन्द्र 'शिप्रिणीवान्' होकर दो शिप्रों से किसी को (कुछ) प्रदान करता है या 'मारता है[३८], ।'' अब हम यहाँ यह देखें कि यदि 'शिप्र-' को हनु या 'गाल' अर्थ में ग्रहण किया जाय अथवा 'नासिका' या 'उष्णीष' अर्थ में स्वीकार किया जाय तो मंत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि कोई इन उपादानों (हनु, गाल नासिका' उष्णीष) से न तो कुछ दे सकता है और न किसी को मार सकता है। इन्हीं कारणों से पाश्चात्य व्याख्याकारों द्वारा सुझाये गये अर्थ—ओष्ठ, मूँछ, जवड़ा, केश, दाढ़ी आदि—भी न्यायोचित नहीं प्रतीत होते। दूसरा उदाहरण 'शिप्रा शीर्षसु विततः

---

३५. SBE. 32, P. 301 f.

३६. ibidem. 46.

३७. ऋ० १०.१०५,५.

३८. यहां वन् धातु का अर्थ 'मारना' लिया जा सकता है, जैसा कि सायण ने यहाँ इसकी व्याख्या 'वनोति' वनुष्यतिहिंसिकर्मा शत्रून् हिनस्ति' किया है।

हिरण्यीः[३९]" (स्वर्णिम 'शिप्रायें' मरुतों के शीर्ष पर फैली हुयी हैं') है। इस उदाहरण में व्याख्याकारों द्वारा दिये गये अर्थ 'उष्णीष' और 'केश' भी उपयुक्त हो सकते हैं यदि इसे मात्र 'शीर्ष' के साथ सम्बन्धित माना जाय। किन्तु ऋग्वेद में कहीं भी 'उष्णीष' जैसा 'शिरस्त्राण' या 'शिर पर रखी जाने वाली कोई वस्तु' वर्णित नहीं है। यहाँ तक कि सिन्धु घाटी सभ्यता में भी इस प्रकार की किसी वेश भूषा का संकेत नहीं मिलता। वहाँ मात्र 'श्रृंगों' या 'श्रृंगों से निर्मित' 'शिर के वेश' (Head Dress) का वर्णन मिलता है। और यह 'श्रृंग-निर्मित शिरका वेश' भी मात्र 'सिन्धु देवता' के 'वृषभ स्वरूप' को इंगित करने के लिये है[४०]। अतः 'उष्णीष' अर्थ को स्वीकारना औचित्यपूर्ण नहीं होगा। किन्तु, देवताओं का यह 'वृषभ-स्वरूप' ऋग्वेद में भी अन्वेषित किया जा सकता है। अग्नि को 'श्रृंग' हिलाते हुये वर्णित किया गया है[४१], जो उनके 'वृषभ-स्वरूप' का परिचायक है—

भूषन्न योऽधि बभ्रूषु नम्नते वृषेव पत्नीरभ्येति रोरुवत्
ओजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमो न श्रृंगा दविधाव दुर्गृभिः ॥

"जंगलों में शिर को झुकाता हुआ जो प्रवेश करता है तथा औषधियों को प्रकाशित करता हुआ आगे वैसे ही बढ़ता है जैसे कोई साँड़ गायों के बीच में गर्जन करता हुआ आगे बढ़ता है। ओजायमान वह अपने स्वरूप को सुशोभित करता है तथा वश में करने में उसी प्रकार कठिन हो जाता है जैसे कोई भयंकर पशु (साँड़) अपनी भयानक श्रृंगों को हिलाता हुआ आगे बढ़ता हो।"[४२]

मैकडानेल ने अपने 'देवशास्त्र' (Vedic Mythology) में इस 'श्रृंग-स्वरूप' का कोई संकेत नहीं किया है।

सोम को भी वृषभ के समान श्रृंगों को तेज करते हुये कहा गया है[४३]

एष श्रृंगाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो वृषा। नृम्णा दधान ओजसा ॥

"समूहों की अगवानी करता हुआ यह वृषभ (सोम) बार-बार सींगों को

३९. ऋ० ५.५४.११
४०. R. N. Dandekar, Some Aspects of the History of Hinduism, Poona 1967, P. 4.
४१. ऋ १.१४०.६
४२. यहाँ एच० एच० विल्सन, द्वारा किये गये अनुवाद का अनुसरण किया गया है।
४३. ऋ० ९.१५.४

घुमाता हुआ, बहादुरी के कार्यों को सम्पन्न करता हुआ उन्हें (शृंगों) को तेज करता है।"[४४]

इसके अतिरिक्त, जैसा कि ओल्डेनबर्ग ने संकेत किया है[४५], शृंगों को तीक्ष्ण बनाने या तेजी से घुमाने का कार्य अन्य सन्दर्भों में भी कहा गया है।[४६] इससे यह सिद्ध होता है कि यह या तो सोम या अग्नि अथवा अन्य किसी देवता को वृषभ के रूप में प्रदर्शित करता है।[४७] इस वृषभ-छवि की हम उन सन्दर्भों से तुलना कर सकते हैं जहाँ शिप्र-द्वारा इसी प्रकार के विचारों को परिलक्षित किया गया है। उपर्युक्त दो उदाहरणों में हम लोगों ने तीव्रगति युक्त शृंगों को देखा है जहाँ 'धूञ् कम्पने' धातु के 'दविधाव' (लिट् का प्र० पु० ए० व० का यङ् लुङन्त रूप) और •दविध्वत् (लङ्० का प्र० पु० ए० व० यङ् लुङन्त रूप)[४८] प्रयुक्त हुये हैं। इसी धातु के क्रियापदों का प्रयोग शिप्र-के साथ भी हुआ है। •इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अपनी दो शिप्राओं को कम्पित करता है[४९]—

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः

शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः।

"वह (इन्द्र) जिसकी हिरण्यमयी (दो शिप्रायें) स्रुवा के समान कम्पित होती हैं और जो शक्ति या अन्न या सोम के लिये अपनी हिरण्यमयी दोनों शिप्राओं को तीव्र गति से घुमाता या कम्पित करता है।"

यहाँ शिप्र का प्रथमा द्विवचन का रूप 'शिप्रे' नपुं० लिङ् का रूप प्रतीत होता है, जिसे 'शृंगों' के साथ समन्वित किया जा सकता है।[५०] उपर्युक्त मंत्र में स्रुवा और शिप्र की समानता भी ध्यान देने योग्य है। स्रुवा का आकार शृंग के समान होता है। इसकी ऋजुता, गांठें इत्यादि शृंग के समान ही होती है।

---

४४. यहाँ प्रोफे० एस० एस० भावे, सोम हिम्स, प्रथम भाग, पृ० ६६, का अनुसरण किया गया है।

४५. Religion des Veda I, p. 604.

४६. ऋ० ५.२.६;६;६.५.२;८७.७.

४७ S. S. Bhave, Soma Hymns, Pt- I, P. 173-

४८. A. A. Macdonell, Vedic Grammar I, p. 393.

४९. ऋ० १०.९६.९.

५०. ऋ० ५.२.९;८.१०.१२;९.५.२;७०.७;८७.७.

इन समानताओं के आधार पर हम शिप्र का अर्थ 'श्रृंग' कर सकते हैं। उपर्युक्त मंत्र में स्रुवा और शिप्र के साथ 'हरिणी' विशेषण है जो अन्यत्र 'श्रृंगे' के साथ भी प्रयुक्त है।[५१]—

रुवति भीमो वृषभस्तविष्यया

श्रृंगे शिशानो हरिणी विचक्षणः।

"हिरण्यमयी सींगों को तीक्ष्ण करता हुआ विशिष्ट द्रष्टा, भयंकर वृषभ अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने की इच्छा से दहाड़ता है।"[५२]

यहाँ श्रृंगे और शिप्रे दोनों प्रथमा द्विवचन (नपुं०) में हैं। इस प्रकार उपर्युक्त 'शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः' और 'श्रृंगे शिशानो हरिणी विचक्षणः' की एक दूसरे से तुलना समान भाव की प्राप्ति के लिये की जा सकती है। अतः 'शिप्रे' को 'श्रृंगे' के साथ स्थानापन्न रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

ऋग्वेद में 'वृष शिप्र' का प्रयोग भी बैल या वृषभ की अवधारणा की पुष्टि करता हैं जिसकी तुलना अन्य सन्दर्भ के 'श्रृंग वृष'[५३] के साथ की जा सकती है। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक देवशास्त्र में 'श्रृंगछवि' (horn-image) का एक विशिष्ट स्थान है।[५४] हम सामान्य जीवन में इस बात का अवलोकन कर सकते हैं कि जब साँड़ या बैल किसी वस्तु को खाने के लिये दौड़ता है तो प्रायः अपने शिर को तेजी से हिलाता है जिससे उसके सींग भी कम्पित होते हैं या कभी कभी मिट्टी के टीले या ढेर में वह अपनी सींगों को तीक्ष्ण बनाता है या खुरेदता है। इसी व्यापार को 'श्रृंगे शिशानः' या 'शिप्रे दविध्वतः' के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

---

५१. ऋ० ९.७०.७.

५२. भाव के अनु० का अनुसरण.

५३. ऋ० ८ १७ १३.

५४. 'In ancient religious cults the god was often represented by his vāhana or certain distinctive features of the vāhana such as bull's horn. According to Marshall' 'horns' were a pre-Aryan emblem of divinity, while some other scholars suggest that 'horns' merely gave the igure a distinctive look and raised it above normal human beings.'

—R N Dandekar - Some Aspects of History of Hinduism, p. 5.

जहाँ तक शिप्र-की निष्पत्ति अथवा तादात्म्य का प्रश्न है इसे हम √ शि (तेज या तीक्ष्ण करना) या √ शिप् 'गति करना' से निष्पन्न कर सकते हैं। इनमें प्रथम निष्पत्ति भाषा वैज्ञानिक आधार पर ठोस नहीं है। दूसरी को हम इण्डो—जरमानिक धातु (Keip) 'पीछे जाना' लैटिन (Cornu) 'सींग' ग्रीक (Kepas) 'सींग या नाखून' के साथ समन्वित कर सकते हैं। इस प्रकार निश्चयात्मक रूप में इसका सम्बन्ध ऐसे शब्दों से है जिनका अर्थ 'हिलना' या 'गतिशील होना है।

अवेस्ता के 'स्रवो' ('यो जनत स्नाविदकम् यिम् स्रवोज़ङ्रॅम्'—यश्त् १६.०३) शब्द का भी शिप्र के साथ तादात्म्य उपस्थित किया जा सकता है। स्रवो ज़ङ्रॅम्' का अर्थ 'शृंगवाले या शृंग जाने वालों' से सम्बन्धित है।[५५] इस आधार पर भी शिप्र का अर्थ 'शृंग' प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

यदि हम ऋग्वैदिक सन्दर्भों की तुलना सिन्धु घाटी सभ्यता के अनुसन्धानों में प्राप्त कुछ सामग्रियों से करें तो हमें शृंगाभिभूषित वृषभ' (Horndressed-Bull) सम्बन्धी कुछ अत्यन्त रोचक तथ्यों का ज्ञान होगा। सिन्धु-घाटी में प्राप्त कुछ मुद्रायें इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक भूमिका प्रदान करेंगी। मुद्राओं पर अंकित देवता का दर्शन दो शृंगों से युक्त रूप में होता है। मैके (Macay) के शब्दों में "seal No. 222 depicts a figure seated what may be called a yogi attitude with the heels pressed together on a low dais whose legs represent those of a bull. The head dress is a twig with leaves like those of a pipal. The horns, if indeed, they are definitely separate from the heap, they are, moreover, represented as fastened to the base of the twig. The head-dress consists of two horn-like objects"[५६]

इस प्रकार इन समस्त तथ्यों से सिद्ध होता है कि शिप्र और कुछ नहीं अपितु 'शृंग' का ही समानार्थी है, जिसे लाक्षणिक रूप में 'ज्वाला, किरण, शृंगों से निर्मित पगाड़ीया उष्णीष' के अर्थों में ग्रहण किया जा सकता है।

---

५५. 'It is to be noticed that almost all the sculptured monsters on the walls of the palace at Persepolis (See Stolge, Perepolis, 1, 4) have a horn on the foreheads so that the epithet 'srvo-zana, when applied to them is literally true. Apparently Snavidka was conceived as such a horned Ahriman monster."
—Arthur F. J. Remy, A. M. Columbia University, New York
N. Y. J. A. O. S. Vol. XX, I half, p. 70

५६. E. Macay, Further Excavation at Mohenjodaro, Vol. I, p. 336 Vol. II, plate LXXXVII, Nos. 222, 235. See also John Marshall; Mohenjodaro and tne Indus Civilizatian, Vol. I, p. 54. In many early mythologies the head dress of 'horns' is a sign of divinity. J. G. Frazer, Attis, Osiris, (London, 1907), pp. 20-30.

ऋग्वैदिक 'अहि' और अवेस्तन 'अज़ि'

प्राचीन भारत एवं ईरानी संस्कृतियों का निकट सम्बन्ध हमें ऋग्वेद और अवेस्ता में प्राप्त अनेक सन्दर्भों के माध्यम से उपलब्ध होता है। इस बात पर विद्वानों में प्रायः सहमति है कि एक काल ऐसा था जब वैदिक आर्यों और ईरानी आर्यों की परम्पराओं का मूल स्रोत एक ही रहा होगा। रोठ, ग्रासमान, बेनफी, केगी आदि के आधार पर हम इस बात को भलेही न माने की ऋग्वेद की रचना भारत-भूमि से कहीं बाहर हुयी थी[1] किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद की मूल संस्कृति और अवेस्ता की मूल संस्कृति का सम्बन्ध बहुत निकट का रहा है। यह बहुत सम्भव है कि बाल्ख क्षेत्र से हीं आर्यों की एक धारा भारत की ओर बढ़ी हो और दूसरी अर्येन बएजह की ओर; और एक धारा ने ऋग्वेद की रचना की तथा दूसरी ने अवेस्ता की। यद्यपि इन दोनों के काल में बहुत अन्तर है, किन्तु सांस्कृतियों में प्रवाहित होते भाव अनन्तकाल तक निर्बाध गति से प्रवाहित होते रहते हैं जो साहित्य के माध्यम से कभी-न-कभी प्रस्फुटित होकर अपने नैरन्तर्य का परिचय देते हैं, जो हमें ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। दोनों के नैतिक विचार[2], धर्म और देव शास्त्र[3], भाषा[4] आदि में उपलब्ध निकट साम्य इस बात का द्योतक है कि दोनों के रचना करने वाले कभी एक दूसरे के निकट अवश्य रहे होंगे।[5] दोनों संस्कृतियों में अच्छे और बुरे दो तत्त्वों का संघर्ष दृष्टिगोचर होता

---

१ R. N. Dandekar, Progress of Indic studies, Poona, 1942, P. 25

२. द्रष्टव्य-लेखक का लेख Concept of morality etc, Prof. Dandekar's Felicitation volume, Ind. Antiquary, 1969 (vol III No. 1–4, pp. 139–51).

३. द्र० S. K. Hodivala, Indo-Iranian Religion with parallelism in the Hindu and zoroastrian Scriptures, Bombay, 1925.

४ द्र० Jackson A. V. W, Avesta Grammar, New York, 1892.

५. द्र० Ilya Gershevitch, the. Avestan Hymn to Mithra (Introduction) Cambridge, 1959.

है,[1] और इस संघर्ष के पश्चात् दोनों में 'ऋत' या 'अश' (सत्य)[2] की विजय होती है। इसी बात को ध्यान में रखकर 'अहि' और 'अजि' के तुलनात्मक रूपों का अध्ययन प्रस्तुत निबन्ध में किया जा रहा है। यद्यपि अवेस्ता में 'अजि' का प्रयोग बहुत नहीं हुआ है[3] किन्तु फिर भी इसे अहि' के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

ऋग्वेद में 'अहि' शब्द के विभिन्न रूप ८६ बार आये है। इसके विभिन्न रूपों में 'अहिः'[4] तथा 'अहिम्'[5] रूप मुख्य हैं जिनकी आवृत्ति अनेक बार हुई है। अन्य रूप अहिना[6], अहिहत्ये[7], अहिनाम्नाम्[8] अहिहन्[9] अहिघ्ने[10] अहिहनम्[11], अहिहा[12],

---

१. द्र० **M. N. Dhalla** Zoroastrian Theology, New York 1914, Our Perfecting World, New York, 1930.

२ द्र० **H. D- Grisswold,** The Religion of the Rigveda, Oxford 1923, **A. A. Macdonell** Lectures on Comparative Religion (University of Calcutta, 18[?]2).

३. अवेस्ता–यस्न ९, ८; ११; यश्त ५, २९; १९, ५०; वेन्दीदाद १; २; १८, ६५।

४, ऋग्वेद-१, ३२, ५; ८; १३; ७९, १; २, ३१, ६; ५, ४१, १६; ६, ४९, १४; ५०, १४; ७, ३४, १७; ३५, १३; ३८, ५; ९, ८६, ४४; १०, ६४, ४; ६६, ११; ९२, १२; ९३, ५.

५. ऋ० १. ३२, १; २; ५१, ४; ८०, १; १३; १०३, २; ७; १८७, ६; २ ११, ५; १२, ३; ११; १५, १; १९. २; ३, ३२, ११; ३३, ७; ४, १७; ७; १९, २; ३; ६; २८, ५; २९, १; ५, २९, २; ३; ८; ३०, ६; ३१, ७; ३२, २; ६; १७, ९ इत्यादि.

६. ऋ० २ ११, २; ५, १७, १; ५५, ६; ७, २१, ३; १०, १११, ९; ११३, ३.

७. ऋ० १, ६, १; ८; १६५, ६; ३, ३२, १२; ४७, ४.

८. ऋ० ९, ८८, ४.

९. ऋ० २, १३, ५.

१०. ऋ० २, ३०, १; ६, १८, १४.

११. ऋ० १, ११७, ९; ११८, ९.

१२. ऋ० २, १९, ३.

अहिगोपाः[1], अहिमानवः[2], अहिमन्यवः[3], अहिशुष्म[4] अहिमायाः[5], अहिमायस्य[6], अहिहत्याय[7], अहिःइव[8] आदि हैं जो अकेले या सामासिक रूपों में प्रयुक्त हुये हैं।

'अहि' शब्द का अर्थ–विस्तार भी विभिन्न रूपों में हुआ है। निघण्टु[9] में इसके तीन अर्थ दिये गये हैं—(१) मेघ, (२) जल और (३) नाम विशेष। किन्तु निरुक्त में इसके 'सर्प' अर्थ की पुष्टि भी निरुक्ति द्वारा की गई है। यास्क ने इसकी निरुक्ति—'अहिः अयनात्, एति अन्तरिक्षे। अयमपि इतरोऽहिः एतस्मादेव। निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति[10] रूप में प्रस्तुत की है। इस प्रकार इसकी निष्पत्ति 'इण गतौ' धातु से (इ + इः = ए + इः = अय् + इः = अयिः = अहिः) होगी। इसके अनुसार इसका मूल अर्थ 'जो जाता है अथवा जो अन्तरिक्ष में गमन करता है अर्थात् 'मेघ'—होगा। दूसरे 'अहि' (सर्प) की निष्पत्ति उपसर्ग 'आ' पूर्वक 'हन्' धातु से होगी, क्योंकि यह लोगों को मारता है।

सायण ने ऋग्वेद में इसे सात अर्थों में ग्रहण किया है—(१) अन्तरिक्ष, (२) जल, (३) मेघ, (४) वृत्र का विशेष नाम, (५) अग्नि, (६) आहन्ता और (७) सर्प। वेंकट माधव ने इसे असुर या आहन्ता अर्थ में ग्रहण किया है।[11] इन्होंने प्रायः 'अहि' 'नाम रूप में ही ग्रहण किया है। ग्रासमान[12] ने इसे 'सर्प' और वृत्र के नाम रूप में ग्रहण किया है।

---

१. ऋ० १, ३२, ११.

२. ऋ० १, १७२, १.

३. ऋ० १, ६४, ८; ९.

४. ऋ० ५, ३३, ५.

५. ऋ० ६, ५२, १५; १०, ६१, ३.

६. ऋ० ६, २०, ७.

७. ऋ० ६, ७५, १४.

८. ऋ० १, १३०, ४.

९. नि० १, १०, २१; १, १२, ३१; ५, ४, २९.

१०. निरुक्त २, १७.

११. द्र० ऋगर्थ दीपिका (डॉ० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित चार भागों में अहि-सन्दर्भ।'

१२. Woerterbuch Zum Rigveda, Wiesbaden, 1964, P. 166 f.

गेल्डनर[1] ने 'असुर' (Drachen) और वृत्र के नाम रूप में माना है। मैक्स म्यूलर,[2] ओल्डेनबर्ग,[3] ग्रिफिथ[4] आदि ने भी इन्हीं अर्थों को माना है।

जिस प्रकार ऋग्वेद में अहि विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है अवेस्ता में भी लगभग वही रूप दृष्टिगोचर होता है। किन्तु अवेस्ता में यह दुष्टता के प्रतिभाशाली रूप में मुख्य है[5] जो स्रओष द्वारा प्रज्वलित पवित्र अग्नि को बुझाने का प्रयत्न करता है और स्रओष जिसके सायास कर्म को विफल करते हैं।[6] अङ्गमइन्यु (क्रोध का देवता) ने इसे अमर बनाने का यत्न करके अहुर मज्दा (वरुण) द्वारा निर्मित सृष्टि का नाश करना चाहा तथा साथ ही इसे मृत्यु और सर्वनाश का प्रतिनिधि बनाया।[7] इसने भी वायु और अर्द्वि सूर की पूजा करके सृष्टि के नाश का वरदान लेना चाहा, किन्तु उसकी कामना विफल हुयी[8] और अन्ततः वह कॅरॅसास्प (कृशाश्व) द्वारा मारा गया।[9] इस प्रकार इसके असुरत्व का द्योतन होता।

ऋग्वेद में अहि, वृत्र और दानु समान स्तर पर प्रतीत होते हैं। कभी-कभी तो 'अहि' वृत्र का विशेषण प्रतीत होता है जिसे इन्द्र ने नष्ट किया[10]। एक मन्त्र में इन्द्र द्वारा शयन करते हुये दानु के हनन का सन्दर्भ है[11] तो दूसरे स्थान पर शयन करते हुये 'अहि' का हनन इन्द्र करते हैं।[12] ओर अन्य स्थलों में शयन करते हुये वृत्र का वध इन्द्र के वज्र द्वारा दिखलाया गया है।[13] इन सन्दर्भों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अहि, दानु, और वृत्र में साम्य है अर्थात् वे एक ही विशिष्ट तत्त्व के विभिन्न नाम हैं। इस बात की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण के इस कथन से भी होती है—"स यद्

---

१. Der Rigveda Uebrseizung.
२ SBE. vol. 32.
३. Ibid, vol. 46.
४. Hymns from the Rigveda.
५. अवेस्ता, यस्न १६, ८; यश्त् १८, १; वेन्दीदाद् १८, १९; २०; २२.
६. मेनुक्-इ-खल ८, २९; ३०.
७. यस्न ९, ८; यश्त् १७, ३४.
८ यश्त् ५, २९–३१; ४१–४३; ५७–५९; ११७–११८; यश्त् १५. ११–२१.
९. बुन्दहिश्न् यश्त् ३०, २३.
१०. ऋ० ४, १७, १; ६, २०, २; ८, २, ३२, २६; १०, १ ३, ८.
११. ऋ० २, १२ १.
१२. ऋ० ३, ३२, ११; ५, २०, ६.
१३. ऋ० [illegible]

वर्तमानम् समभवत् तस्माद् वृत्रोऽथ यद् अपात् समभवत् तस्मात् अहिस्तद् दनुश्च दनायूश्च मातेव च पितेव च परि-जगृहतुः तस्माद् दानव इत्याहुः ।''[१]

इस कथन में 'अपात्, (पैर रहित) विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसकी तुलना ऋग्वेद के उन सन्दर्भों से कर सकते हैं जहां 'अहि' या 'वृत्र' को 'अपात्' कहा गया है।[२] 'अपात्' के कारण 'वृत्र' या 'अहि' का 'सर्पणभाव' या सर्प होना संभाव्य है। इस स्थिति में 'अहि' की तुलना अवेस्ता के उस स्थल से की जा सकती है जहां 'अज़ि' को सर्प रूप में कहा गया है—

'यो जनत् अज़ीम् स्वरॅम्
यिम् अस्पो—गरॅम् नॅरॅ-गरॅम्
यिम् वीषवॅ तॅम जइरितॅम्
यिम उपइरि वीश् अरओधत्
आरश्त्यो-बरॅज़् ज़इरितॅम् ।—यस्न ९, ११ ।

"जिसने (कॅरॅसास्प—'कृशास्व,) सींग युक्त अहि का हनन किया. जो अहि अश्व को निगलने वाला और मनुष्यों को निगलने वाला था (और) जो विषवान् तथा हरित (पीले) रंग वाला था) जिसके ऊपर जंघे की ऊँचाई तक विष उफनता (उठता) था।"

अथवा इसी सन्दर्भ में दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है :—

यो जनत् अज़ीम् दहाकॅम्
थ्रिज़फ़नॅम् थ्रिकमॅरॅधॅम्
क्षवश् अषीम् हज़ङ्र—यओक्ष्नीम्
अशओङ्हॅम दएवीम् द्रुजॅम्
अघॅम् गएथाव्यो द्रवॅतॅम्
यॉम् अशओजस्तॅमॉम् द्रुजॅम्
फ्रच कॅरॅंतत् अङ्रो मइन्युश्
अओइ यॉम् अस्त्वइतीम् गएथॉम्
महर्काई अषहे गएथनाम् ॥ यस्न ९, ८ ।

"जिसने (थ्रएतओन-'त्रित आप्त्य') 'अज़ि दहाक' (दहाक नामक सर्प) को मारा; जो अहि तीन जबड़ों वाला, तीन खोपड़ियों वाला, छः आँखों वाला, सहस्र युक्तियों

---

१. श० ब्रा० ४, ४, ५, ३.

२. ऋ० ३, ३०. ८.

वाला था, जो बहुत ही शक्तिशाली, धूर्त, पापी, जीवित प्राणियों को धोखा देने वाला था; जिस बलशाली को अङ्ग्रा मइन्यु ने सृष्टि के विरोधी रूप में तथा अशु (ऋत-सत्य) की सृष्टि के विनाश के लिये निर्मित किया था।"

प्रस्तुत सन्दर्भ के 'थ्रिकमेंरॅथॅम्' (त्रिकमूर्धम्) की तुलना ऋग्वेद के उस स्थल से कर सकते हैं जहाँ इन्द्र के द्वारा प्रेरित 'आप्त्य' ने (त्रित आप्त्य=थ्रअेतओन) विश्व रूप और तीन शीर्ष वाले वृत्र या अहि का नाश किया।[1] इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी 'त्रित' और 'अहि' का सम्बन्ध एक दूसरे के शत्रु रूप में प्रदर्शित किया गया है।[2] जिस प्रकार ऋग्वेद में त्रित अहि को मार कर गायों को स्वतन्त्र करते हैं उसी प्रकार अवेस्ता में थ्रअेतओन द्वारा 'अजि दहाक' को मारकर दो युवतियों को स्वतन्त्र करने की बात कही गई है।[3] इस प्रकार यह सन्दर्भ 'अहि', वृत्र' या 'वल' के साथ 'गौओं', 'उषस्' या 'आपः' संबंधी देवशास्त्रीय भूमिका का द्योतन करता है।[4] 'त्रित' का सम्बन्ध 'वल' से भी ऋग्वेद में इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है।[5]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अहि, वृत्र, दानु आदि जीवधारी हैं या प्रतीक रूप में देवशास्त्रीय क्षेत्र में इनने अपना स्थान ग्रहण किया है? ऋग्वेद के अनेक स्थलों में वृत्र या अहि को मारकर इन्द्र द्वारा जल को प्रवाहित करने के कार्य का उल्लेख किया गया है।[6] इस प्रकार इसे 'मेघ' का प्रतीक माना जा सकता है। किन्तु यह 'नदी वृतम्',

---

१. स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्........ऋ० १०. ८, ८.
'त्रित' और 'थ्रअेतओन' के सन्दर्भ में विशेष द्रष्टव्य —
B. Geiger, Die Ame a spentas, Wien 1916, P.57 ff; **K. Ronnow,** Trita Aptya. I§ (Dissertation, Uppasala, 1927); H. Lommel, Der arische Kriegsgott (Frankfurt 1939), P. 59 ff.

२. ऋ० १०, ४८, २.

३. **B. Geiger,** op. cit, P 57 ff.

४. ऋ० १, १८७, १; ८, ७, २४; G. Widengree, Numen 1, 1954, 55. Die Religionen Irans (Stuttgart 1965, 46).

५. ऋ० १. ५२, ५; **Oldenberg,** Religion des Veda, P. 142 n. 4; ZDMG 61, 1907, 819.

६. ऋ० १, ३२, १३; १, ८५, ६; ३, ३२, ६; ३६, ८; ४. १७, १; ६, २०, २, इत्यादि।

'अपो वव्रिवांसम्'[१], 'काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्[२]' और 'दीर्घं तमः'[३] से केवल 'मेघ' नहीं हो सकता। जहाँ यह एक ओर अन्तरिक्षस्थ आपः को परिवृत करने वाला मेघ है वहीं दूसरी ओर नदियों के जल को रोकने वाला 'हिमखण्ड'[४] और उषा रूपी गौओं को रोकने वाला 'दीर्घ तम'[५] का प्रतीक भी हो सकता है। भारतीय-ईरानी सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुये इस बात पर गहराई से सोचना पड़ता है कि उस काल में प्राकृतिक उपादानों के विभिन्न रूप ही देवशास्त्रीय आवरण को धारणकर साहित्य में समाविष्ट हुए हैं। दीर्घकाल तक सूर्य का न दिखलायी पड़ना, नदियों का शीतकाल में जमकर हिमखाड रूप में परिवर्तित हो जाना, उषाओं और गौओं का अन्धकार पूर्ण स्थानों में चला जाना--उस काल के वातावरण में देवशास्त्र के अन्तर्गत इन सभी को प्रतिनिधित्व देना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। दीर्घ शीतकाल में गौओं का 'न्मानअेषु परव्रुमअेषु[६]' (बहुत मजबूत घरों में) चला जाना या उषाओं का दीर्घतम में रहने या आवृत रहने के पश्चात् तम से बाहर आना[७] या दीर्घशीत में नदियों का घिरा होना और हिमखण्थ के दीर्घाकार को असुर मान लेना उस काल की विशेषतायें हैं। अहः जब हम 'परिष्ठिता अहिना'[८] या 'अहिना जग्रसानान्[९]' जैसे वाक्यांशों को देखते हैं तो निश्चय ही मन में हिमखण्डों से घिरे नदी-जल का चित्र मनः पटल पर छा जाता है। किन्तु यह जल का घेरने वाला 'अहि' केवल असुर ही नही था, वरन् 'अहिर्बुध्न्य' रूप में कभी यह देवता बनकर भी वैदिक ऋषियों की कल्पना के माध्यम से उद्भूत हुआ है।[१०]।

अहि और वृत्र उस मेघ के प्रतीक रूप में प्रतीत होते हैं जो वर्षा होने के पूर्व अन्तरिक्ष में गमन करता है। इसके साथ ही कुछ मन्त्रों में विद्युत् का भी उल्लेख किया गया है। वृत्र ने इन्द्र को विद्युत् और गर्जन द्वारा पराजित करना चाहा, किन्तु इन्द्र ने युद्ध करते हुए इसे जीत लिया[११]। इस वर्णन में अहि, वृत्र का विशेषण है। विद्युत् और गर्जन का सम्बन्ध मेघ से होने के कारण 'अहि' तथा 'वृत्र' मेघ के प्रतीक हैं।

---

१. ऋ० ६, २०, २; ८, १२, २६.
२ ऋ० १, ३२, १०.
३. ऋ०, १, ३२, १०.
४. ऋ० ८, ३२, २६.
५. ऋ० १, ३२, १०.
६. 'परव्रुमअेषु न्मानअेषु परी जि़मो अअेतङ्हो दअेङ् हअेषु-- इत्यादि वेन्दीदाद् २, २३.
७. ऋ० ४, १, १७.
८. ऋ० २, ११, २; ७, २१, ३.
९. ऋ० ४, १७, १; १०, १११, ९.
१०. ऋ० १, १८६, ५; ६, ५०, १४; ७, ३५, १३.
११. ऋ० १, ३२, १३.

दूसरा प्रश्न दानु का है। इसके पूर्व शयन करते हुये दानु के मारे जाने की बात कही गई। दानु वृष्टि का दायक है और उसके द्वारा की गई वृष्टि से जिस प्रकार यव वर्धित होते हैं वैसे ही मेधावी जन सदैव वर्धित होते हैं।[1] यह वर्णन दानु के कल्याणकारी रूप का प्रदर्शन करता है जो अहि के देवत्व रूप के साथ साम्य का द्योतक है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई काल ऐसा भी था जिसमें दानु और अहि राक्षसी प्रवृत्ति से भिन्न भी माने गये थे। यहाँ दानु को यदि अवेस्ता के 'दानु' से सम्बन्धित करें तो अनुचित न होगा। अवेस्ता में यह 'नदी' या 'धारा' (Fluss, strom)[2] अर्थ का द्योतक है और यहाँ इसका तादात्म्य ओस्सेटिक 'दोन' (नदी) के साथ तथा आधुनिक 'डेन्यूब' के साथ स्थापित कर सकते हैं।[3] इतना ही नहीं- अवेस्ता में भी यह 'दानु' राक्षस के अर्थ में आ गया है; जैसे—"यूज़म् तव तउर्वयत वॅरॅथ्रॅम् दानुनाँम् तूररनाँम्···त्वॲषा दानुनाँमू तूरनाँम्·······" —(यश्त् १३.३) [तुम (फ्रवषि देवी) शत्रु रूपी दानवों की शक्ति (वॅरॅथ्—वृत्र) को तथा शत्रुता को नष्ट करो या उसका अतिक्रमण करो]। इसके नदी अर्थ को इस अंश में देख सकते हैं —

"जम्याँत् इथ्र अपाउनाँम् सूरा स्पॅ्तो फ्रवषयो अषोइश् बॲषज् हचिम्नो जॅ.म्–फ्रथङ्ह दानुन्दाजङ्ह ह्वर-वरॅजङ्ह·······"—(यस्न ६०, ४) "यहाँ पर सत्यनिष्ठ की अच्छी, वीर, (और) अमर फ्रवषि देवियाँ आयें (जो) सत्य की कामना वाली, भेषज-युक्त, पृथिवी के समान प्रथित, नदी के समान दीर्घाकार (दानु-द्राज-ङ्ह), सूर्य के समान ऊचाई वाली हैं···।"

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'दानु' का सम्बन्ध जल से है। यह जल दीर्घनद भी हो सकता है और मेघ भी; जो अपनी विशालता के कारण भयदायक और त्रासद हो सकता है तथा अपने इस भीषणता के कारण असुरत्व का बोधक भी–जो बोध साहित्यिक कल्पना के आवरण में एक विशेष रूप को जन्म देकर देवशास्त्रीय व्यक्तित्व का स्थान ग्रहण करता है।

दानु के इस वृहदाकार के साथ वृत्र पर भी एक चलती दृष्टि डाल लें। श० ब्रा० द्वारा 'वृत्र' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

'वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम।'[4] इस व्युत्पत्ति से यहाँ परिलक्षित सोता है कि 'वृत्र' वृहद स्थान का आवरण करने वाला है। यह आवरणकर्त्ता

---

१. श० ब्रा० १. १, ३, ४.

२. Christian Bartholomae, Altiranische Worterbuch, Berlin 1961 p. 733 f.

३. Loc. Cit. द्रष्टव्य—गेल्डनर, वेदिसे स्टुडीन, ३, ४५.

४. श० ब्रा० १, १, ३, ४.

'मेघ' भी हो सकता है और 'जलौघ' भी, अथवा किसी काल विशेष में 'नदीवृत'[1] 'हिमशिला' का प्रतीक भी। जो भी हो, वृत्र 'मेघ' का पर्याय अवश्य है, जो 'आपः' को अपना घर बनाकर दीर्घतम के रूप में इन्द्र के शत्रु होने का संयोग प्राप्त करता है।[2]

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।

वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

"प्रवाहित होती हुयी, गृह रहित आपः के मध्य में निहित वृत्र के शरीर रूपी स्थान को आपः गमन करती हैं तथा इन्द्र शत्रु वृत्र दीर्घतम के रूप में शयन करता है।"

यह वृत्र इन्द्र का शत्रु है और उसके वध के समय महान घोष उत्पन्न होता है।[3] यह महान् घोष मेघ के गर्जन का प्रतीक होता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अहि, दानु, वृत्र आदि सभी जल से सम्बन्धित असुरों का मूल स्रोत 'मेघ' है।

'अहि' के 'मेघ' अर्थ के साथ ही इसका 'जल' और 'अन्तरिक्ष' अर्थ भी मेघ' के साहचर्य में आया होगा। साथ ही जहाँ 'बुध्न्य' शब्द जुड़ा है वहाँ भी 'जल' ही प्रधान है। ऐसे स्थलों में अग्नि का सम्बन्ध भी इससे है। केवल एक मंत्र में यह अकेले ही अग्नि का विशेषण है जहाँ वह वैद्युताग्नि के रूप में प्रस्तुत किया गया है और वर्षा कराने वाला कहा गया है।[4] इस प्रकार यहाँ भी उसका सम्बन्ध 'मेघ' से है। अन्य मन्त्रों में भी वह 'अहिर्बुध्न्य' रूप में जल से सम्बन्धित है।[5] अहिर्बुध्न्य को भी जल का प्रदाता कहा गया है।[6] एक स्थान पर उसे जल से उत्पन्न हुआ बतलाया गया है।[7] ऐसी स्थिति में यदि हम इस 'अहिर्बुध्न्य' का विश्लेषण करें तो अर्थ होगा—जिसका मूल (बुध्न) अहि (जल) है, वह।' वैसे 'अहि' को नदियों के बुध्न' में स्थित कहा गया है:—

'अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्।'[8]

---

१. ऋ० १, ५२, २; ३, ३३, ६.
२. ऋ० १, ३२, १०.
३. ताण्ड्य महाब्राह्मण—१३, ४, १.
४. ऋ० १, ७६, १.
५. ऋ० १, १८६, ५; ७ ३५, १३.
६. ऋ० ६, ५०, १४.
७. ऋ० ७, ३४, १६; १७.
८. ऋ० ७, ३४, १६.

(जल से उत्पन्न अहि की स्तोत्रों द्वारा प्रशंसा करता हूँ, जो (अहि) नदियों के मूल में तथा लोकों में स्थित है।

यह 'अहि' यहाँ पर 'वडवाग्नि' का रूप प्रतीत होता है, और बहुत सम्भव है कि यही अग्नि भीषणता के कारण अवान्तरयुग में देवता से राक्षस अर्थ में आ गया हो। अन्यथा बार-बार उसको मारकर जल को मुक्त करने की बात क्यों दुहराई जाती।[१]

'अहि' शब्द 'सर्प' अर्थ में ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है जहाँ पर उसके केचुल (त्वचा) छोड़ने का वर्णन है:—

'अहिर्न जूर्णमति सर्पति त्वचम्'[२] (सर्प के समान अपनी जीर्ण त्वचा का अतिसर्पण या विसर्जन करता है)। यह केचुल छोड़ने का वर्णन अथर्ववेद[३], शतपथ ब्राह्मण[४], बृहदारण्यक उपनिषद्[५], जैमिनीय ब्राह्मण[६] और कठोपनिषद्[७] में भी आया है। ऋग्वेद में सर्प शब्द भी एक ही बार आया है[८]। 'अहि' का 'सर्प' अर्थ में प्रयोग ऋग्वेद के उस अंश में मिलता है जिसे सर्व सम्मति से अवान्तरकालीन माना जाता है। द्वितीय से सप्तम मण्डल पर्यन्त, जो अंश सबसे प्राचीन माना जाता है, 'अहि' का प्रयोग कहीं भी 'सर्प' अर्थ में नहीं प्रतीत होता। अतः यह 'सर्प' अर्थ जलधारा की कुटिल गति के आधार पर अथवा सर्पण करने की समानता के कारण 'अहि' के साथ जुड़ा होगा। प्रथम मण्डल में मरुतों को एक स्थान पर 'अहिभानवः'[९] कहा गया है; वहाँ भी 'अहि' का अर्थ संभवतः 'सर्प' ही है, क्योंकि वह तेज गति और अपनी चमक के कारण मरुतों की तुलना के लिये उपयुक्त हो सकता है। किन्तु यह अंश भी प्राचीन अंश के अन्तर्गत नहीं है। इसी के साथ दशम मण्डल के उस अंश को भी रख सकते है जहाँ 'अहि' का बहुवचनान्त रूप 'अहीनाम्'[१०] प्रयुक्त हुआ है और

१. ऋ० १, ३२, २; १०३, २; ७; १८७, ६ आदि.

२. ऋ० ६, ८६ ४४.

३. अथर्ववेद १, २६.

४. श० ब्रा० ११, २, ६, १३.

५. बृह० उ० ४, ४; १०.

६. जै० ब्रा० १, ६.

७. क० उ० २ ६.

८. ऋ० १०, १६, ६.

९. ऋ० १, १७२ १.

१०. ऋ० १०, १३६, ६.

वह भी गन्धर्वों के साथ जहाँ इनकी दक्षता का वर्णन है जिसे इन्द्र जानते हैं। किन्तु यहाँ भी वह नदियों के साथ जुड़ा है। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह 'सर्प' अर्थ में है। परन्तु इतना निश्चित है कि अवान्तरकालीन साहित्य में इसका प्रयोग 'सर्प' अर्थ में ही होने लगा था जैसा कि अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों में इसके प्रयोग से प्रतीत होता है। यहीं से यह इण्डो-यूरोपियन भाषाओं में भी 'सर्प' अर्थ में गया होगा जैसा कि लेटिन के 'ऐंगुस' और अवेस्ता के 'अज़ि' से स्पष्ट है। अवेस्ता का 'अज़ि' सर्प रूपी राक्षस का ही प्रतिनिधित्व करता है।[1]

———

१. यस्न ९, ७; ८; ११.

अवेस्ता और ऋग्वेद में अकारान्त (पुंल्लिग) संज्ञा रूपों का तुलनात्मक अध्ययन

१. प्राचीन भारतीय-ईरानी संस्कृतियों के संलापक विन्दु अवेस्ता और ऋग्वेद हैं। दोनों के धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विचारों में जो समानता दृष्टिगोचर होती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों संस्कृतियों के प्रवर्तक एक स्थान से विकीर्ण हुये होंगे और उनकी मूल भाषा भी एक ही रही होती। अवेस्ता और ऋग्वेद के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों की भाषाओं में अत्यन्त सन्निकटता है। इसी सन्निकटता को द्योतित करने के लिये इस लघु निबन्ध में प्रयास किया जा रहा है। यहाँ पर भाषा के विविध रूपों का स्पष्टीकरण करना असम्भव हैं, अतः संज्ञा रूपों में केवल अकारान्त पुंल्लिग रूपों का ही तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

२. दोनों भाषाओ में संज्ञारूपों में जो प्रत्यय लगते हैं उनका तुलनात्मक रूप इस प्रकार है :—

एक वचन के प्रत्यय

	अवेस्ता	ऋग्वेद
प्रथमा	स्,श्	अस् (स्)
द्वितीया	म्, अॅम्	अम्
तृतीया	अ	आ
चतुर्थी	अऐ	ए
पञ्चमी	अत्, आध्	आत्, अस् (अः)
षष्ठी	अस् (हे)	अस्य (स्य, अः)
सप्तमी	इ	इ (ए)
सम्बोधन	स्, श्	प्रातिपादिक रूप

द्विवचन के प्रत्यय

	अवेस्ता	ऋग्वेद
प्र०	अ	औ (आ, आँ), अ
द्वि०	अ	औ (आ. आँ), अं
तृ०	ब्यो	भ्याम्
च०	,,	,,

पं०	,,	,,
ष०	ओ	ओस् (अयोः,ओः)
सप्त०	अओश	,, ,,
सं०	अ	ओ, (आ, आँ),अ

बहु वचन के प्रत्यय

	अवेस्ता	ऋग्वेद
प्र०	अस्	अस्, आसस्, आस्
द्वि०	,,	,, ,, ,,
तृ०	बिस्, बीस्	एभिस्, ऐस्
चतु०	ब्यो	भ्यस्
पं०	,,	,,
ष०	आँम्, नाँम्	आम् (नाम्)
सप्त०	हु, ह्व, षु, ष्व	सु (षु)
सम्बो०	प्र० ब० व० के समान	प्र० व० के समान

पुंल्लिंग प्रथमा एक वचन के संज्ञारूप

३. अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों में संज्ञा शब्दों के पुं० ए० व० के रूप बहुलता से प्राप्त हैं। ऋग्वेद में तो ये रूप १००७१ बार आये हैं।[1]

ये सभी रूप अस् (स्) में समाप्त होने वाले हैं। केवल 'क्राणा' (द्र० सायण, भा० १.५८.३; पाणिनि अष्टा० ७, १,'३६ के आधार पर) रूप अपवाद है। बोलेन्सन के अनुसार 'आ' अस्, (स्) का ही प्रतिनिधित्व करता है ओर कभी-कभी इसका स्थान 'ओ' उसी प्रकार ग्रहण कर लेता है जैसे कि द्विवचन में 'औ' का स्थान 'आ' (उदाहरणार्थ- मित्रावरुणा) ग्रहण करता है।[2] ये सभी बातें अवेस्ता-रूपों में भी देखी जा सकती हैं।

४. अवेस्ता और ऋग्वेद के प्रथमा ए० व० के रूपों का तुलनात्मक रूप निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है :—

पुं० संज्ञा शब्दों के प्र० ए० व० के रूप

अवेस्ता	ऋग्वेद	अवेस्ता	ऋग्वेद
पुथ्र	पुत्रः	मिथ्रो	मित्रः

---

१. द्रष्टव्य–**Benfey**, Vedica, P. 115.

२. द्रष्टव्य–ZDM G. Vol xxii, P.574.

स्पितमो	श्वेतः	अहुरो	असुरः
हओमो	सोमः	मइर्यो	मर्यः
मश्यो	मर्त्यः	अइर्यो	अर्यः
माथ्रो	मन्त्रः	अस्पो	अश्वः
यस्न	यज्ञः	दअ`वो	देवः

पुंल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया और सम्बो० के द्विवचन के रूप

५. पुं० सं० शब्दों के प्र०, द्वि० और सम्बो० के द्विवचन रूपों का अन्त अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों में 'आ' में होता है, किन्तु इस 'आ' का परिवर्तन अवेस्ता में और ऋग्वेद में 'औ' में भी हो सकता है। अवेस्ता में कभी-कभी 'ए' भी प्राप्त होता है। जो ऋग्वेद के नपुं० के रूपों के समान है। 'आ' में अन्त होने वाले द्वि व० रूपों की संख्या ऋग्वेद में ११२६ है, एवं 'औ' में अन्त होने वाले रूपों की संख्या १७१ है। दोनों भाषाओं के उदाहरण निम्निलिखित हैं :—

अवेस्ता	ऋग्वेद
पुथ्र	पुत्रौ
अस्प	अश्वौ
जस्ते	हस्तौ
मिथ्रइरे	मित्रे
स्पादा	...
गवो (दोनों हाथ)	...
वीर	वीरौ
...	मित्रावरुणा
...	इन्द्रावरुणा

ब० व० व० प्रथमा एक और सम्बोधन ब० व० के रूप

६. प्रथमा और सम्बो० ब० व० के प्रत्यय अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों में मूलरूप से 'आस्' और 'आसस् हैं, जो अवेस्ता में 'आ' तथा 'ओ' में परिवर्तित मिलते हैं। ऋग्वेद में 'आसस्' बना रहा; किन्तु उनका विकास 'आस्' से बने रूपों में हुआ। 'आसस्' में अन्त होने वाले रूपों की संख्या ऋग्वेद में १०३७ (पु० ब० व० ६३६+सम्बो० ब० व० १०१) है और 'आस्' में अन्त होने वाले रूपों की संख्या २१८० (पुं० ब० व० १९५४+सम्बो० ब० व० २२६) है। अवेस्ता में मूलरूप से 'आसस्' के स्थान पर 'अस्' या 'आंस्' मिलता है जो परवर्तीकाल में 'अस् या आओङ्हो में परिवर्तित हो गया ! दोनों भाषाओं के तुलनात्मक रूप निम्नलिखित उदाहरणों में देखे जा सकते हैं—

अवेस्ता	ऋग्वेद	अवेस्ता	ऋग्वेद
पुथ्रोङ्हो	पुत्रासः,पुत्राः	मश्योङ्हो	मनुष्याः
पुथ्र		मश्याच	जनासः
		मश्य	मर्त्याः
वॅहर्काङ्हो	वृकासः	अपाध	अपादाः
वॅहर्क	वृकाः	वॅरॅज्योङ्हो	वृद्धासः
दअेवाङ्हो	देवासः	अमॅषास्पॅत	अमृतासः
दअेव	देवाः	अमॅषो	अमृताः
अउर्वांङ्हो	उर्वन्ताः	स्तओराच	चौरा (श्च)
स्पाध	स्पादाः	अइरे,अर्य	आर्याः

द्वितीया एक वचन

७. अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों में द्वि० ए० व० का प्रत्यय 'अम्' (म्) है। ऋग्वेद में १३५७ शब्दों के द्वितीया ए० व० के पुं० रूप ६८६१ बार प्रयुक्त हुये हैं। अवेस्ता में स्वरान्त शब्दों के साथ 'म्' प्रत्यय और व्यञ्जनान्त के साथ 'अम्' प्रत्यय लगता है। दोनों रूप बहुलता से प्राप्त हैं। दोनों भाषाओं के तुलनात्मक रूप नीचे दिये जा रहे हैं:—

अवेस्ता[1]	ऋग्वेद	अवेस्ता	ऋग्वेद
हओमॅम्	सोमम्	विमइधीम्	...
गाइम्	गाम्	विमइधॅम् (गेल्डनर यश्त् १५।३१)	
स्पितामॅम्	...		
हइथीम्) हइथ्यम्)	हस्तम्	अॅरॅनाउम् (अॅरॅनव + म्)	ऋणम्
		जूम (ज्व + म्)	...
		ग्रओम् (ग्रव + म्)	...
मइधीम्) मइधिम्) म(दिम्)	मइध्य + म्		

द्वितीया बहु वचन के रूप

८. अवेस्ता में द्वितीया ब० व० के रूपों का अन्त 'आँन्' या 'आँ' में होता है जो ऋग्वेद में 'आन्' प्रत्यय के रूप में प्राप्त हैं। किन्तु कभी-कभी ऋग्वेद में भी 'आँ'

1. अवेस्ता में 'म्' के पूर्व सन्धिगत अ; आ; इ, ई; उ, ऊ; य और व का परिवर्तन क्रमशः अं, आँ, ई, ऊ, इ और ए में होता है।

प्रत्यय मिलता हैं, जबकि इसके पूर्व स्वर हो और यह पाद के अन्त में न हो। जैसे ऋग्वेद १,६२.७ में—उषो गो अग्राँ उपमासि···।' दोनों भाषाओं के तुलनात्मक रूप नीचे दिये जा रहे हैं :—

अवेस्ता	ऋग्वेद	अवेस्ता	ऋग्वेद
हओमाँ	सोमान्	माँथ्रांश्च	मन्त्रान्
हओमाँ	···	स्माँ	अस्मान्
यामाँन्	···	गॅरॅवाँ	···
अऍष्माँश्च	···	दअॅवाँस्च	देवान्
अऍष्माँ	···	अरॅद्र्ॅर्ॅग्	···
वास्त्र्याँश्च	वस्त्रान् (वस्त्राणि)		
मश्याँश्च	मर्त्यान्, मर्त्या		

९ कभी कभी अवेस्ता में द्वितीया ब० व० रूपों का अन्त 'आइश्' प्रत्यय में भी होता; जैसे—'स्पॅरॅ्तोदाइश्' (वीस्पर्द १९,१) 'दअॅवाइश्' (यस्न १९,२) 'दअॅवा (नाइसीमी)'—(यस्न १२,१)—आदि रूप ध्यान देने योग्य हैं।

तृतीया एक वचन के रूप

१०. तृतीया एक वचन में अवेस्ता में प्रायः प्रातिपदिक का मूलरूप ही विद्यमान रहता है। 'अ' और 'आ' (कभी-कभी 'ए' या 'या' भी) इसके मूल प्रत्यय हैं, किन्तु पुं० अकारान्त रूपों में ये प्रत्यय कम ही दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद में सामान्य प्रत्यय 'आ' (टा) है, किन्तु अकारान्त पुं० शब्दों का अन्त नियमतः 'एन' में होता है ('टाङसिङसामिनात्स्याः—पा० ७.१.१२) जो कभी-कभी छन्द की दृष्टि से 'एना' रूप में परिवर्तित मिलता हैं। ऐसे रूपों की संख्या ऋग्वेद में ८५ है। पुं० अकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या ऋग्वेद में १५० है जिनके तृतीया एक व० के रूप ३७४ हैं। दोनों भाषाओं के कुछ रूप नीचे दिये जा रहे हैं;

अवेस्ता	ऋग्वेद
हओम	सोमेन
वात	वातेन
माँथ्र	मन्त्रेण
वाज़ा	वाजेन
पुथ्र	पुत्रेण
यस्न	यज्ञेन
स्तओम	स्तोमेन

तृतीया, चतुर्थी और पंचमी द्विवचन के रूप

११. अवेस्ता में इन रूपों का अन्त 'व्या' (ब्य, ब्यो) में एवं ऋ० में 'भ्याम्'

में होता है। दोनों भाषाओं में इन रूपों की संख्या बहुत कम है। ऋग्वेद में पुं० में ये रूप केवल १६ बार आये है जिनमें १४ पुं० प्रातिपादिकों के रूप हैं। दोनों भाषाओं से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं :—

अवेस्ता	ऋग्वेद
तृ० द्वि वचन	
ज़स्तअ इब्यो	हस्ताभ्याम् (ऋ० १०,१३७,७)
ज़स्तोइब्य	दशशाखाभ्याम (१०,१७,७)
	मित्रावरुणभ्याम् (५,५,६)
पतरॅतअ ब्य	युक्ताभ्याम् ६,२३,१)
स्तओरअ इब्य	शुभ्राभ्याम् (१,३५,३)
गओषइ्य	
चतुर्थी द्विव०	
वयअ इब्य	नासत्याभ्याम् (१,११६,१)
उबोइब्य	उभाभ्याम्(६,६७,२५)
पञ्चमी द्विव०	
	अंशाभ्याम् (१०,१६३,१)
	आभ्याम् (४,६२,२२)
	कर्णाभ्याम् (१,१६३.१)

तृतीया बहुवचन के रूप

१२. अवेस्ता में तृतीया ब० व० के प्रत्यय 'बीश्' बिश् और 'आइश्' हैं जो ऋ० के भिस् और ऐस्' के समान हैं, किन्तु ऋग्वेद में पुं० अकारान्त रूपों का अन्त 'एभिस्' या 'ऐस्' में होता है। इसी प्रकार अवेस्ता में पुं० अकारान्त रूपों का अन्त 'आइश्' में होता है। बोप के अनुसार 'एभिस्' और 'ऐस्' का विकास 'आभिस्' से स्वतन्त्र रूप से हुआ है।[४] किन्तु 'अस्माभिस्' और 'युस्माभिस्' को छोड़कर ऐसे कोई रूप न मिलने के कारण यह विचार असंगत प्रतीत होता है। अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों से यहां कुछ रूप उदाहरणार्थ दिये जा रहे हैं—

अवेस्ता	ऋ०	अवेस्ता	ऋ०
सवाइश्	सोमेभिः	गँउषाइश	अर्कैः
मजिस्ताइश	विश्वेभिः	यस्नाइश्	यज्ञेभिः
वॅरॅज्दाइश्	वाजेभिः		
आफ्रिवनाइबिश्	अश्वैः		
पुथाइश्	पुत्रैः		

४. Vergleichende Grammatik, para 210.

चतुर्थी एक वचन के रूप

१३. अवेस्ता पुं० अकारांत प्रातिपदिकों के साथ चतुर्थी ए० व० का प्रत्यय 'ए' (मूलरूप में ऐ') है जो प्रातिपदिक के साथ संधिगत रूप में 'आइ' में परिवर्तित मिलता है। वेद में 'ए' या 'आइ' के स्थान पर 'आय' प्रत्यय है (ङे.र्यः—पा० ७.१.६)। ऋ० में ११६ प्रातिपादिकों के (पुं०) च० ए० व० में १८३ रुप प्राप्त हैं। दोनों भाषाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

अवेस्ता	ऋ०	अवेस्ता	ऋ०
वाचाइ	देवाय	हनुर्याइ	तनयाय
अरॅद्राइ	इन्द्राय	वॅरॅथ्रघ्नाइ	वृत्राय
अषाई	मदाय	फ्रवाकअॅच	मर्त्याय
मश्याइ	सूर्याय	यस्नाइ	यज्ञाय
स्पितमाइ	वरुणाय	हओमाइ	सोमाय

चतुर्थी और पञ्चमी बहुवचन के रूप

१४. अवेस्ता में च० और प०ब०व० के लिये 'ब्यो' प्रत्यय है जो ऋ० के 'भ्यस्' का ही एक रूप है। 'भ्यस्' को ही प्रातिपादिक के साथ 'एभ्यस्' और 'एभिअस्' छन्द की दृष्टि से) हो जाता है। अवेस्ता और ऋ० दोनों से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं :—

अवेस्ता	ऋ०	अवेस्ता	ऋ०
जस्तअॅइब्यो	वस्त्रेभ्यः	मांथ्रोइब्यस्चा	उग्रेभ्यः
मश्याकअॅइब्यो	मनुष्येभ्यः	मिथोइब्यो	गृहेभ्यः
मरतअॅइब्यो	मर्तेभ्यः	दअॅवइब्यो	देवेभ्यः
रानोइब्यो	देवेभ्यः		
दातोइब्यस्च	रथेभ्यः		

पंचमी एक वचन के रूप

१५. वेद में अकारान्त पुं० (और नपुं०) लिंग के भी शब्दों का पंचमी एक वचन का रूप 'आत्' प्रत्यय (ङ०सि—मूल प्रत्यय जिसको 'आत्' होता है—टाङ.-सिङ०सामिनात्स्याः'—पा० ७.१.१२) में हाता है जो अवेस्ता के 'आत्' या 'आअत्' के समान ही है। ऋ० में पं० ए० व० के १८३ रूप हैं जो ११६ प्रातिपदिकों से बने हैं। अवेस्ता में भी इस विभक्ति के ए० व० के रूप बहुलता से प्राप्त हैं। दोनों भाषाओं से कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं :—

अवेस्ता	ऋ०	अवेस्ता	ऋ०
पुथ्रात्	इन्द्रात्	अश्याथ	ऋतात्
खुम्बत्	[illegible]	[illegible]	[illegible]

पिस्रत्	समुद्रात्	ख्वपनाध	स्वप्नात्
क्षथात्	अन्तरिक्षात्	अपाख्व्ररत्	
क्षत्राध	दूरात्		

१६. जुस्ती के अनुसार अवेस्ता और वेद दोनों में मूल प्रत्यय 'अ-अत् (अ-अत्)—जैसे अश्व-अत् (अश्वात)—है। उन्होंने अवेस्ता से १४ रूपों को (जैसे दअेवा-आत्च) उद्धृत किया है[५] किन्तु गेल्डनर का कथन है कि पंचमी का प्रत्यय 'आत्' केवल एक अक्षर (Syllable) का प्रतिनिधित्व करता है[६] और वेद में 'अ—अत्' की स्थिति (जिसमें दो अक्षर हैं) संदेहास्पद है[७] गेल्डनर का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है।

षष्ठी एक वचन के रूप

१७. वेद में अकारान्त ष० ए० व० के रूपों का अन्त 'स्य' (मूल प्रत्यय 'ङस्' का 'स्य' आदेश—पा० ७.१.१२) में होता है। ऋ० में इसके १८६० रूप हैं जो ५०० प्रातिपादिको से बने हैं। अवेस्ता में 'स्य' के स्थान पर 'अस्' (जो कभी-कभी 'हे' में परिवर्तित हो जाता है) प्राप्त है। दोनो भाषाओ से कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं :—

अवेस्ता	ऋ०	अवेस्ता	ऋ०
यस्नहे	यज्ञस्य	स्पितामहे	श्वेतस्य
पुथ्रेहे	पुत्रस्य	कावयेहे	(कवयस्य)
गयेहे	मूरस्य		

१८. अवेस्ता के प्राचीन भाग गाथाओ में 'हे' (ष० ए० व० का प्रत्यय) के स्थान पर 'ख्या', 'ह्या' भी मिलते हैं, जैसे 'अहुरह्या' (असुरस्य. अवे०—अहुरहे), श्यओथह्या', 'स्पें् तख्याचा' आदि।

षष्ठी और सप्तमी द्विवचन के रूप

१९. वेद में ष० और स० द्वि व० का प्रत्यय 'ओस्' (ओः, अयोः) है जो अवेस्ता में 'ओ' और 'अओश्' (सप्त० द्वि व) के रूप मे प्राप्त हैं। अवेस्ता में प्रायः 'य' का आगम होता है; जैसे—'ज़स्तयो' (यस्न ५७,३१) पाधयाो (यश्त् १०, २३) जिसकी तुलना वैदिक 'हस्तयोः' और 'पादयोः' से की जा सकती है। दोनों भाषाओं से कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं :—

---

५. द्रष्टव्य—Handbuch des Awesta, p. 359.

६. द्रष्टव्य—Metric des Jungeren Awesta, p. 30.

७. Kuhns Beitrage 4. p. 181.

अवेस्ता	ऋ०
ष० द्विव०	
वीरयो	वीरयोः
वंह्रकायो	अयोः
सरेंघयो	यमयोः
हावनयोस्च	वरुणयोः
स० द्विव०	
ज़्स्तयो	हस्तयोः
	अंसयोः
	मखयोः

षष्ठी ब० व० के रूप

२०. दोनों भाषाओं में ष० ब० व० का प्रत्यय 'आम्' 'नाम्' (नुट् का आगम होने पर—ह्रस्व नद्यापो नुट्'—पा० ७.१.५४-) है। अवेस्ता के 'स्तओराम्' (वेन्दीदाद् ८,१२), अह्नस्तंनाम्' गॅरॅंघाम् (वेन्दादाद् ३,१०,२२), अरताम् (वेन्दीदाद् ६, २६; १५, ३) वैदिक रूपों के समीप हैं[1] किन्तु गाथाओं में इस प्रकार के रूप नहीं मिलते जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह अवान्तरकालीन विकास है। दोनों भाषाओं से कुछ रूप यहां दिये जा रहे हैं—

अवेस्ता	ऋ०	अवेस्ता	ऋ०
श्यओथनाम्	कर्मणाम्	स्तओराम्	चौराणाम्
श्यओथननाम्	अधराणाम्	स्तओरनाम्	अमृतानाम्
सुखाम्	जनानाम्	गॅरॅंघाम्	यज्ञियानाम्
मश्याकनाम्	मनुष्याणाम्	वरसाम्	देवानाम्
मश्यानाम्	(मर्त्यानाम्)		

सप्तमी एक वचन के रूप

२१. अवेस्ता और ऋ० दोनों में सप्तमी ए० व० के रूपों का अन्त 'इ' प्रत्यय (ङि) में होता है जो प्रातिपादिक 'अ' (thematic) के साथ संधिगत होकर 'ए' के रूप में दृष्टिगोचर होता है। दोनों भाषाओं से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं :—

अवेस्ता	ऋग्वेद	अवेस्ता	ऋग्वेद
ध्रिष्वे	अध्वरे	मधेमे	अश्वे

---

१. (द्रष्टव्य जुस्ती, हाण्डबुख, खण्ड ५२८,४; गेल्डनर मेट्रिक डेस् यूंगेरेन अवेस्ता खण्ड ७०.

फ्वाके	अमीके	हॅ्जमइने	संगमने
जओषे	इन्द्रे	अपारुध्रे	यज्ञे

२२. अवेस्ता में कभी,कभी 'अ' के स्थान पर 'ओइ' और 'इ' के स्थान पर 'य' प्राप्त होता है; जैसे—अथ्रोइ, आरोइ, आजोइ; रअॅथय, ज़स्तय, हइथ्य इत्यादि।

सप्तमी बहुवचन के रूप

२३. अवेस्ता में सप्तमी ब० व० के प्रत्यय हु, ह्व; षु, ष्व हैं जो ऋग्वेद के 'षु' 'सु' (एषु) के समान हैं। १२३ प्रातिपदिकों के ऐसे पुं० रूप ऋ० में ५४८ हैं। ऋ० में सप्तमी के 'एषु' अवेस्ता के 'ष्व' के समान कभी भी 'व्' में परिवर्तित नहीं होता। साथ ही दूसरे पर स्वर के साथ सन्धि होने पर भी इसका उच्चारण अलग से असन्धिगत रूप में ही होता है; जैसे 'वृत्रेष्विन्द्र' का उच्चारण 'वृत्रेषु इन्द्र' ही होगा। यहां दोनों भाषाओं के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

अवेस्ता	ऋ०	अवेस्ता	ऋ०
अस्पअेषु	अश्वेषु	मश्यअेषु	मनुष्येषु
वॅरॅथ्रघ्नअेषु	वृत्रेषु	मरॅतअेषु	मर्त्येषु
वॅरॅषअेषु	अध्वरेषु	सरहु	शीर्षसु
		(यश्त् १०,४०)	
वरॅष्व	भरेषु	दअेवअेष्व	देवेषु
स्तॅरॅमअेषु	सवनेषु	हवनअेषु	सवनेषु

२४. इस प्रकार से यह संक्षिप्त सर्वेक्षण दोनों भाषाओं की रूपात्मक एवं अर्थात्मक सन्निकटता को द्योतित करता है, जिससे दोनों संस्कृतियों की सन्निकटता का भी बोध होता है।

———

वेद में व्याहृति-विचार

हिंदूधर्म समस्त सृष्टि, और सृष्टि के अतिरिक्त भी जो कुछ है, सभी को एक पूर्णत्व में समाहित कर आध्यात्मिक रूप प्रदान करने की प्रक्रिया को सदैव महत्त्व देता रहा है। वैदिक काल के प्रारम्भ से ही 'भूमा वै सुखम्'[1] की विचारधार को प्रश्रय मिला। आर्यों की यह 'भूमा' वाली दृष्टि उन्हें सीमित से असीमित की ओर बढ़ने और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रेरणा देती रही। आर्यों की विचारधारा प्रारम्भ काल से ही अपने व्यक्तित्व के चरम विकास की ओर उन्मुख रही। जहाँ उन्हें सृष्टि के नियामक रूप में अनेक देवताओं के दर्शन हुए, वहीं तीनों लोकों में अपने को समाहित करने की एवं तीनों लोकों के नियन्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करने की दृष्टि भी प्राप्त हुई। व्याहृतियाँ इसी व्यापक दृष्टि की सुनिहित पृष्ठभूमि की परिचायिका हैं।

व्याहृति शब्द की निष्पत्ति 'वि+आ+हृ+क्तिन्' रूप में की गयी है, जिसका अर्थ 'व्याहार' (उच्चारण' कथन, वर्णन) तथा 'मन्त्रविशेष' है।[2] प्रथम अर्थ में इसका प्रयोग हम ब्राह्मणों में देख सकते हैं।[3] प्रस्तुत लेख में हमारा अभिधेय दूसरा अर्थ ही है, जिसकी व्यापकता का परिचय समस्त वैदिक साहित्य तथा अवान्तर-कालीन साहित्य के अवलोकन से प्राप्त होता है।

जहाँ तक 'व्याहृति' शब्द के प्रयोग के इतिहास का प्रश्न है, यह संहिताओं से ही प्रारम्भ होता है। संहिताओं में केवल यजुर्वेद की संहिताओं में ही इसका प्रयोग मिलता है, ऋग्वेदादि अन्य संहिताओं में कहीं भी यह प्रयुक्त नहीं है। इससे स्पष्ट भासित होता है कि इसका प्रारम्भ यज्ञ-विधानों के साथ ही होता है। सम्भवतया इसके पूर्व मन्त्रोच्चारण के साथ ओम् अथवा व्याहृतियों (व्या०) का योग आवश्यक

---

१. 'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (छा० उ० ७. २३. १).
'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, यो वै भूमा तदमृतम्।' (छा० उ० ७. २४. १).

२. वाचस्पत्यम् षष्ठो भागः, पृ० ४६८६; शब्दकल्पद्रुमः भा० ४, पृ० ५५२).

३. श० ब्रा० १, १, १, १३; २, ५, १३; ६, १, १, २; १२; ८, १, ६; ष० ब्रा० ३, ६, ३, ६;

नहीं था। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता (वा० सं०) में तीन व्या०—भूः, भुवः, स्वः—का प्रयोग तीन बार हुआ है, जिसमें से 'भूः' पृथिवी और 'स्वः' स्वर्ग या द्युलोक के प्रतीक रूप में मानी गयी हैं।[४] कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय सं० (तै० सं०) में व्या० को ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए एवं ब्रह्म को यज्ञमुख कहते हुए आदेश किया गया है कि व्या० के द्वारा अग्निहोत्र किया जाय; क्योंकि अग्निहोत्र या यज्ञ से ही देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की। साथ ही व्या० को पुरोनुवाक्या (मन्त्रसमूह-विशेष) के रूप में प्रयुक्तकर यजमान शत्रुओं के प्रति जो भी कामना करे, वह पूर्ण होती है।[५] अन्य स्थल पर प्रजापति द्वारा इन्हीं व्या० के माध्यम से प्रजासृष्टि करते हुए बतलाया गया है। अतः इन तीन व्या० का प्रयोग कर कोई भी इस लोक में प्रजा सृष्टि कर सकता है और ऊपर के लोकों में गमन कर सकता है।[६]

काठक सं० (का० सं०) और मैत्रायणी सं० (मै० सं०) में कहा गया है कि प्रजापति अकेले होते हुए भी व्या० के माध्यम से दस हुए, और जो इस महत्व को जानता है वह भी एक से अनेक होता है तथा तेज और पूर्णत्व की प्राप्ति करता है।[७]

का० सं० में एक स्थान पर 'व्याहृति' को पाङ्क्त (पञ्चयुक्त) कहा गया है, जिसमें वायु, अन्तरिक्ष, आकाश, पृथिवी और मन को यज्ञ से सम्बन्धित कर उसका तादात्म्य व्या० से प्रदर्शित किया गया है। यहाँ पर व्या० का अर्थ 'वाणी' से तथा वायु आदि का सम्बन्ध वाणी के उच्चारण स्थान आदि से परिलक्षित है।[८]

मै० सं० में एक स्थान पर व्या० की संख्या बारह कही गयी है और उनका तादात्म्य संवत्सर के बारह महीनों के साथ माना गया है[९]; किंतु यहाँ पर व्या० का नाम-निर्देश न होने से संख्या कल्पनामात्र बनकर रह गयी है।

कपिष्ठल कठ सं० (क० सं०) में व्या० की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए कहा गया हैं कि प्रजापति जब पहली बार बोले तो सत्य ही बोले और उसी सत्य का उच्चारण तीन बार 'भूः, भुवः, स्वः' के रूप में हुआ। जो भी इस बात को

---

४. 'भूर्भुवः स्वः—द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा······(वा० सं० ३, ५; ३७; ७; २६).

५. तै० सं० १, ६, १०, २, ३; ४; ५.

६. वही—५, ५, ५, ३; ४.

७. का० सं० ६, १३; 'मै० सं० १, ६, ५ (प्रजापतिर्दशहोतैकस्सन् भूयिष्ठभाग व्याहृतीनामुतैकस्सन् बहुर्भवति। य एवं वेद तेजसे कं पूर्णमा इज्यते।)

८. 'पाङ्क्त्येषा हि व्याहृतिः, पाङ्क्तो यज्ञो वाच एवैतद्।'—का० सं० २३, ५.

९. "द्वादशैता व्याहृतयो द्वादशमासाः संवत्सरः।'—मै० सं० ४, १, १२.

जानता है और इन व्या० से अग्न्याधान करता है, वह समृद्ध होता है।[10] दूसरे स्थान पर व्या० को ऋतुओं के परिवर्तन का कारण माना गया है।[11]

इस प्रकार संहिताओं में केवल उपर्युक्त तीन व्या० का ही कथन किया गया है; किंतु इनके प्रति भी स्पष्ट धारणा नहीं बन पायी थी—ऐसा अधिकांश संदर्भों से ज्ञात होता है।

ब्राह्मण (ब्रा०)—ग्रन्थों में व्या० सम्बन्धी विचारों में विकास हुआ है, जहां उन्हें अन्य उपादानों के साथ सम्बन्धित किया गया है। ऐतरेय ब्रा० (ऐ० ब्रा०) में तीनों व्या० को तीन देवताओं के साथ सम्बन्धित किया गया है, जहाँ वे क्रमशः अग्नि, इन्द्र और सूर्य का प्रतिनिधित्व करती हैं और ज्योतिर्मय कही गयीं हैं। ये सभी प्रातः, माध्यन्दिन और सायं सवन के नेत्ररूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं, जिनका व्या० प्रतिनिधित्व करती हैं।[12] यहाँ पर हमें अग्नि, इन्द्र और सूर्य के ऋग्वैदिक स्वरूप की आभा मिलती है, जहाँ पर उन्हें भू, अन्तरिक्ष और स्वर्ग के देवता रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[13] अन्य स्थल पर व्या० की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए कहा गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं की कामना से तप किया एवं पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की

---

१०. 'प्रजापतिर्वै यदग्रे व्याहरत्स सत्यमेव व्याहरत्। एतद्वाव स त्रिर्व्याहरत् भूर्भुवः स्वः.........य एवं विद्वानेतेनाधत्ते स भवत्येव।'—क० सं० ६, ९; का० सं० ८, ४.

११. 'एकया व्याहृत्या व्यावर्तयति तस्मादृतवो व्यावर्तन्ते'—क० सं० ३१, १२, का० सं० २०, १०.

१२. 'भूरग्निर्ज्योतिरग्निरिति प्रातः सवनस्य चक्षुषी। इन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्र इति माध्यन्दिनस्य सवनस्य चक्षुषी चक्षुष्मद्भिः सवनैराप्नोति चक्षुष्मद्भिः सवनैः स्वर्गं लोकमेति य एवं वेद।'—ऐ० ब्रा० २, ३२.

१३. (क) समिद्धो अग्निः निहितः पृथिव्याम्...ऋ० २, १; तथा अन्य स्थलोंपर भी अग्नि को पृथिवी से सम्बन्धित किया गया है, जैसे—ऋ० १, ४९, २; ३, २५, १; अथर्ववेद ४, ३९, २; साथ ही उसे ज्योति भी कहा गया है—'ज्योतिरथं शुक्रवर्णं तमोहनम्।'—ऋ० १, १४०, १.

(ख) इन्द्र को अन्तरिक्षस्थ देवता माना गया है—'ऋ० १, ५१, २; अथर्व० ८, ८, ५; ६; ७; ८; साथ ही उसे समस्त सृष्टि का नेत्र भी कहा गया है—'त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुषः—ऋ० १०, १०२, १२.

(ग) ऋ० ५, ४०, १०; ६३, ५; अथर्व० ५, २४, ९, १३, १, ४५ आदि स्थानों में सूर्य को द्युलोक से सम्बन्धित कर उसे सभी का चक्षु कहा गया है।

सृष्टि की; साथ ही उन लोकों को तप्त किया जिनसे तीन ज्योतियाँ उद्भूत हुईं, जो क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य हैं। इन तीनों को भी तप्त किया गया, जिनसे क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद उद्भूत हुए और इन्हें भी तपाने से तीन दीप्तियाँ (शुक्र) भूः, भुवः और स्वः—क्रमशः तीनों वेदों से निष्पन्न हुईं। इनको भी तप्त करने से अकार, उकार और मकार की उत्पत्ति से 'ओम्' की सृष्टि हुई। इस प्रकार ये व्या० तीन लोक, तीन देवता, तीन विद्या, तीन अक्षर आदि की द्योतक मानी गयीं, जो वेदों के अन्तःश्लेषण के रूप में स्वीकार की गयीं।[१४] व्या० को बल, अन्न, यश, श्री आदि का प्रदाता भी माना गया है। जो इनसे आहुति देता है उसे इन सबके साथ इस लोक में ब्रह्मवर्चस्, रस, पुष्टि आदि[१५] तथा स्वर्ग में अमृतत्व की प्राप्ति होती है।[१६]

शतपथ ब्रा० (श. ब्रा.) में व्या० की संख्या क्रमशः १४ और ३४ तक कही गयी है, जहाँ ११ रुद्र और ३ व्या०, अथवा १२ आदित्य और द्यावा-पृथिवी मिलकर १४ व्या० हैं, अथवा ३३ देवता और प्रजापति मिलकर ३४ व्याहृतियाँ हैं।[१७] किन्तु यह कथन आलङ्कारिक-सा प्रतीत होता है। मुख्य व्या० तीन हैं, जिसमें ये सभी व्याप्त माने जा सकते हैं; क्योंकि ये तीनों व्या० तीनों लोकों की प्रतीक हैं, जिनसे परे कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार संवत्सर के त्रयोदश मासों के साथ भी इनकी तुलना कर व्या० की संख्या १३ कही गयी है[१८] और साथ ही अन्य स्थल पर पुरुष में प्रतिष्ठित नौ प्राणों के साथ इनकी संख्या नौ भी मानी गयी[१९]।

श० ब्रा० में वाक् का तादात्म्य ब्रह्म से स्थापित करते हुए और उसे सत्स्वरूप मानते हुए व्या० को 'सत्य' कहा गया है। इनमें 'भूः' प्रजापति का रूप है; क्योंकि प्रजापति ने इसको उत्पन्न किया, 'भुवः' अन्तरिक्ष का रूप है और 'स्वः' द्युलोकका। इन्हीं तीनों में समस्त लोक व्याप्त हैं।[२०] अन्य स्थल पर कहा गया है कि प्रारम्भ में केवल वसिष्ठों को ही व्या० का ज्ञान था और वसिष्ठ ही पहले ब्रह्मा हो सकते हैं; और वही ब्रह्मा बनने के योग्य है, जिसे व्याहृतियों का सम्यक् ज्ञान हो।[२१]

---

१४. ऐ० ब्रा० ५, ३२.
१५. वही ८, ७.
१६. वही ८, १४, १६.
१७. श० ब्रा० ४.५.७.१; २; ३; ४; ५.
१८. 'त्रयोदशैता व्याहृतयो भवन्ति, त्रयोदश मासाः संवत्सरस्य—''वही—७.२.३.९.
१९. वही—११.२.१.३.
२०. वही—२.१.४.१०; ८.७.४.५.
२१. वही—१२.१.१.१[illegible]

तै० ब्रा० में व्या० के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि प्रजापति ने चार होताओं (होतृ, अध्वर्यु, उद्‌गाता और ब्रह्मा) का सृजन किया तथा प्रत्येक को तपाया, जिनमें से तप्त होने के पश्चात् तीन ने क्रमशः भूः, भुवः और स्वः का व्याहरण किया, जिनसे क्रमशः भू, अन्तरिक्ष और स्वर्ग का सृजन किया गया। यही तीनों व्या० और लोक हैं। इन लोकों के पश्चात् ही प्रजापति ने प्रजा, पशु और छन्दों को उत्पन्न किया। इस प्रकार प्रजापति की इन प्रथम व्या० को जो जानता है, वह प्रजा और पशु से समृद्ध होता है।[22] ताण्ड्य ब्रा० (तां० ब्रा०) में भी व्या० को समस्त कामनाओं और समृद्धियों को देने वाली कहा गया है।[23] शाङ्खायन ब्रा० में कहा गया है कि जो 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' से हवन करता है, वह यज्ञ को समृद्ध बनाता है और जो इनसे 'प्रायश्चित्त' करता है तथा इनको जानता है, वह दारुण श्लेष्मा से छुटकारा प्राप्त करता है।[24]

आर्षेय ब्रा० में व्या० को प्रजापति की प्रतिष्ठा कहा गया है[25]। ष० ब्रा० में व्या० को प्रमादपूर्वक किये गये मन्त्रोच्चारण-दोष का निवारक कहा गया है। यदि कोई यज्ञ में मन्त्रोच्चारण में प्रमाद कर बैठे तो उसे 'भूर्भुवः स्वः' का मानस जाप करना चाहिये। इस प्रकार वह दोषमुक्त हो जायगा और यज्ञ में हानि भी नहीं होगी[26]। वहाँ इन्हें 'महाव्याहृति' का नाम भी दिया गया है[27]। ष० ब्रा० में 'इन्द्राय स्वाहा', 'शचीपतये स्वाहा' आदि मन्त्रांशों को भी व्या० का नाम दिया गया है[28] जो वहाँ पर व्या० के उक्तिमात्र अर्थ को द्योतित करता है[29]।

गोपथ ब्रा० (गो० ब्रा०) में सृष्टि-निर्माण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जब ब्रह्म ने ब्रह्मा की सृष्टि की तो ब्रह्मा को चिन्ता हुई कि वे किस अक्षर के द्वारा समस्त कामनाओं, लोकों, देवों, वेदों, यज्ञों, शब्दों आदि की अनुभूति करें। इसके लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया और द्विवर्ण एवं चतुर्मात्रा वाले 'ओम्' का दर्शन किया एवं इसी के माध्यम से सभी की अनुभूति की। प्रथम वर्ण से

---

२२. तै. ब्रा० २. २. ४. १—३.
२३. तां० ब्रा० ४. २. १८; ६. ९. १७.
२४. शां० ब्रा० ६. १२.
२५. आ० ब्रा० ३. १. ३.
२६. ष० ब्रा० १. ७.
२७. वही—१. १६.
२८. वही—६. ३. ३; ४. ३; ५. ३; ६. ३; ७. ३; ८. ३; ९. ३; १०. ३; ११. ३; १२. ३.
२९. द्रष्टव्य—तां० ब्रा० ४. २. १८. पर सायणभाष्य (एषा मन्त्रगता व्याहृतिरुक्तिः।)

'आप:' और 'स्नेह' की तथा द्वितीय वर्ण से 'तेजस्' और 'ज्योतियों' का अनुभव किया[३०]। इसी की प्रथम स्वरमात्रा द्वारा उन्होंने पृथिवी, अग्नि, ओषधि, ऋग्वेदादि के साथ 'भू:' व्याहृति की अनुभूति की[३१]। द्वितीय स्वरमात्रा के द्वारा अन्तरिक्ष, वायु, यजु० आदि के साथ 'भुव:' व्या० की अनुभूति की[३२]। तृतीय स्वरमात्रा के माध्यम से द्युलोक, आदित्य, सामवेद आदि के साथ 'स्व:' व्या० का दर्शन किया[३३]।

'ओम' के मकार से इतिहास, पुराण, उपनिषदादिसहित 'महत्' की उत्पत्ति हुई[३४]। अन्य स्थान पर कहा गया है कि चारों वेदों से क्रमश: 'ओम् भू:, भुव:, स्व:' व्या० की निष्पत्ति हुई[३५]। ब्राह्मणों में गो० ब्रा० पहला ब्राह्मण है, जिसने 'ओम्' को व्याहृति कहा तथा व्या० के पूर्व 'ओम्' के उच्चारण का विधान किया[३६]। वैसे यह निश्चित है कि यह ब्राह्मण उपनिषदों के बाद का है, अत: यह 'ओम्' सम्बन्धी विचार मूलत: औपनिषदिक है[३७]।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के द्वारा यह निश्चित प्रतीत होता है कि व्याहृतिकी संख्या प्रारम्भ में तीन ही थी और उनका दार्शनिक आधार तीन लोक या उन्हीं लोकों से सम्बन्धित देवता थे। उनकी वह व्यापकता हमें आरण्यकों और उपनिषदों में और अधिक विकसित प्रतीत होती है। आरण्यकों में ऐतरेय आरण्यक (ऐ० आ०) ने 'भू: भुव: और स्व:'—तीन ही व्याहृतियोंका नामाङ्कन किया है[३८]। साथ ही उनका तादात्म्य तीन वेदों से निरूपित किया है और अन्त में सभी को प्राण में समाहित बतलाया है, अर्थात् प्राण ही सब कुछ है, उसी का ज्ञान करना चाहिये[३९]। तै० आ० ने भी इसी

---

३०. गो० ब्रा० १. १.१६.
३१ वही—१. १. १७.
३२ वही – १. १. १८.
३३. वही—१, १. १६.
३४ वही—१, १, २०.
३५. वही—१, १, २७.
३६. 'एषा व्याहृति: सर्वान् वेदानभिवहत्योमिति ।' —वही—१, ३, १.
३७. द्रष्टव्य—गो० १, १, २१ जहाँ इतिहास, पुराण, उपनिषद् आदि की चर्चा की गयी है, जो इसके पूर्व अवश्य ही विद्यमान थे।
३८. ऐ० आ १ । ३ । २.
३९. 'ता वा एता सर्वा ऋच: सर्वे वेदा: सर्वे घोषा एकैव व्याहृति:, प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्' (वही २ । २ । २)

दार्शनिक विचार को प्रश्रय दिया है । तीन व्याहृतियों को स्वीकार करते हुए उसने पहली बार स्पष्ट रूप से 'महः' को चतुर्थ व्याहृति के रूप में ग्रहण किया और इसे ब्रह्म तथा आत्मा का रूप माना । अन्य व्याहृतियों को तीन लोकों, देवताओं, वेदों आदि से सम्बन्धित बतलाया । 'भूः' पृथिवी, 'भुवः' अन्तरिक्ष, 'स्वः' द्यौ और 'महः' आदित्य है, अथवा 'भूः' अग्नि, 'भुवः' वायु', 'स्वः' आदित्य और 'महः' चन्द्रमा है । चन्द्रमा से समस्त ज्योतियाँ महिमामयी हैं; अथवा 'भूः' ऋक्, 'भुवः साम, 'स्वः' यजुष्, 'महः' ब्रह्म है । ब्रह्म से ही समस्त वेदों की महत्ता है । अथवा 'भूः' प्राण, 'भुवः' अपान, 'स्वः' व्यान और 'महः' अन्न है; अन्न से ही समस्त प्राणी महनीय हैं । इन चारों व्याहृतियों को जो जानता है, देवता उनके लिये बलि का आहरण करते हैं[४०] । अन्य स्थल पर भी व्याहृति का तादात्म्य इसी प्रकार देवताओं और प्राण से स्थापित कर कहा गया कि जो इसे जान लेता है, वह ब्रह्म, आत्मा, प्राण आदि का ज्ञान लाभ कर आनन्द, शान्ति और समृद्धि की प्राप्ति करता है[४१]। इसी प्रकार से यह स्थिति आत्मलीनता या स्थितप्रज्ञता की कही जा सकती है, जिसका वर्णन मैत्र्योपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।

'जिसके चित्त का मल समाधि के द्वारा विगत हो चुका है, उस आत्मनिविष्ट को जो सुख होता है, उसका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकतीं । वह तो केवल अन्तःकरण द्वारा ही अनुभूत किया जा सकता है ।' अथवा—

'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति[४२] ।

(ब्रह्म रस को प्राप्त कर ही यह आत्मा आनन्दित होता है) या श्वेताश्वतर उप० (४ । १४) में कथित 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' (ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर अत्यन्त शान्ति और कल्याण को प्राप्त करता है) की स्थिति का दर्शन है, जिसे गीता में इस प्रकार कहा गया है :—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।—६ । १५.

'नियत मन वाला योगी सदैव अपने को ब्रह्म के साथ युक्त करता हुआ मेरे परम स्थान, शान्ति और निर्वाण को प्राप्त करता है ।'

इस प्रकार आरण्यकों में व्याहृति का स्वरूप दार्शनिकता की चरम सीमा का

---

४०. तै० आ० ७ । ५ । १ । १—३.
४१. वही ७ । ६ । १ । २.
४२. तै० उप० २ । ६ । १.

स्पर्श करता है। उपनिषदों में भी प्रायः इसी दृष्टि से विवेचन किया गया है। तै० उप० में तो तै० आ० (७।५।१।१—३) के कथन की पुनरावृत्तिमात्र है।[४३] छा० उ० में तीन व्याहृतियों को तीनों वेदों से निष्पन्न माना गया है, जो ऐ० ब्रा० (५।३२) के विचारों से साम्य रखता है[४४]। मैत्रा० उप० में प्राण और आदित्य की उपासना करने के लिये 'ओम्', व्याहृति और सावित्री मन्त्र को साधन बतलाया गया है[४५]। साथ ही 'ओम्' को ब्रह्म के अमूर्तरूप 'सत्य' एवं 'ज्योति' का ही रूप कहा गया हैं।[४६] जैमि० उप० में तीन महाव्याहृतियों को प्रजापति द्वारा अभिषूत तीन वेदों—ऋक्, यजु०, साम०—का क्रमशः रस माना गया है,[४७] साथ ही वाक् का तादात्म्य ब्रह्म से मानते हुए उसे ही 'व्याहृतियाँ' और व्याहृतिको त्रयी विद्या' कहा गया है[४८]। इन्हीं त्रयी विद्याओं को निचोड़ने से 'ओम्' अक्षर की निष्पत्ति हुई[४९], जो अक्षर अक्षय ब्रह्म का स्वरूप है[५०]। इसकी तुलना मैत्रा० उप० के उस अंश से कर सकते हैं, जहाँ 'ओम्' को ही 'पुण्य' और 'परम' कहा गया है, जिसके ज्ञान से इच्छित फलों की प्राप्ति होती है।[५१]

प्राचीन उपनिषदों में चार व्याहृतियों के अतिरिक्त अन्य किसी का स्पष्ट कथन नहीं किया गया। बाद के छोटे उपनिषदों में नृसिंहपूर्वतापिनी उप० (नृ० पू० ता० उ०) और गायत्रीरहस्योपनिषद् (गा० र० उ०) में सप्त व्याहृतियों का स्पष्ट निर्देश किया गया है। नृ० पू० ता० उ० में केवल व्याहृति की सात संख्या का ही कथन है,[५२] जब कि गा० र० उ० में उनके नामकरण सहित पूर्ण व्याख्या की गयी है। उसके अनुसार भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्—सात व्याहृतियां हैं, जो क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, महर्लोक, जनलोक, तप और सत्यलोक की प्रतीक

---

४३. तै० १।५।१; ३.

४४. छा० उ० ४।१७।३.

४५. मैत्रा० उ० ६।२.

४६. वही ६।३.

४७. जैमि० उ० १।१।१।१—४.

४८. वही २।३।३ ३; ६।६।७.

४९. वही १।७।१।६-७.

५०. वही–१।७।२।१.

५१. मै. उ. ६।४ 'एतदेवाक्षरं पुण्यमेतदेवाक्षरं परम्। एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

५२. नृ० पू० ता० उ० २, ४.

हैं।[५३] चतुर्वेदोपनिषद् का कथन है कि सृष्टि के पूर्व केवल एक नारायण थे, उन्हीं के तप से चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, जिन्होंने चारों दिशाओं–पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में अभिमुख होकर ध्यान किया, जिनसे क्रमशः भूः, भुवः, गायत्री छन्द, भूः, भुवः, त्रिष्टुभ् छन्द, यजु०; भुवः, जगती, साम० और जनः, अनुष्टुभ्छन्द, अथर्व० की उत्पत्ति हुई।[५४] निश्चय ही यह विचार एवं विकास अर्वान्तरकालीन है। जहाँ तक व्याहृति के मूलरूप का प्रश्न है, ये तीन ही—भूः, भुवः, स्वः हैं, जो तीनों लोकों की प्रतीक हैं; क्योंकि वेदाङ्गों में भी कहीं पर भी तीन के अतिरिक्त किसी भी व्याहृति का कथन नहीं किया गया है और इन्हीं तीनों को महाव्याहृति के नाम से अभिहित किया गया है।[५५] साथ ही वेदाङ्गों ने 'ओम्' के प्रयोग का भी इनके साथ विधान किया है[५६], यद्यपि उसके प्रयोग के स्थान पर विवाद भी रहे हैं।[५७] परन्तु प्रायः व्याहृति के पूर्व ही 'ओम्' का प्रयोग किया जाता है। वेदाङ्गों में व्याहृतिहोम का भी विधान मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि यदि कभी हवि ले जाते समय वह गिर पड़े या टूट जाय अथवा उल्टी हो जाय तो एक चम्मच घी लेकर आहवनीय अग्नि में 'भूर्भुवः स्वः'से हवन करना चाहिये।[५८] इस प्रकार यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्रों में जो कमी या त्रुटि है अथवा जो अनिच्छित है उससे उत्पन्न दोष का हरण करता है, इसलिये इन्हें 'व्याहृति' नाम दिया गया है।[५९] समस्त यज्ञ प्रणव (ओंकारः) और व्याहृति

---

५३. गा० र० उ० १.

५४. चतुर्वेद उ० १, १.

५५. कात्या० श्रौ० सू० २, १, ६; १६; ४, १६; २५, १. ६; गोभिल १, ८, १५; २, १०, ४; आश्व० श्रौ० सू० २, १४, २८; निरुक्त १३, ६; पाणिनि अष्टाध्यायी ८, २, ७१.

५६. आश्व० गृ० सू० ३, ४, ८. ('ओंपूर्वा व्याहृतयः'); गोभिल सू० २, १०, ४० ('महाव्याहृतीश्च विहता 'ॐ कारान्तः')

५७. गोभिल सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टनारायणोपाध्याय का मत है कि सभी व्याहृतियों के पश्चात् ॐ का प्रयोग किया जाय—जैसे, भूः ॐ, भुवः ॐ इत्यादि किन्तु भवदेवभट्टका मत इसके विपरीत है, अर्थात् ॐ भूः, ॐ आदि जैसा प्रयोग होना चाहिये, जब कि वीरेश्वर का मत इनके भी विपरीत है। उनके अनुसार ॐ भूः ॐ; ॐ भुवः ॐ आदि जैसा व्याहरण ही उचित है।

५८. कात्या० श्रौ० सू० २५. १, ६; आश्व० श्रौ० सू० २, १४, २७ (महाव्या० होमोऽनादेशे); गोभिल सू० १, १, ११.

५९. बौधायन श्रौ० सू० २७, ३, ४ (यहाँ पर गो० ब्रा० १, २, ६ से 'व्याहृतिभिः यज्ञस्य छिद्रं शमयति'—कथन की तुलना की जा सकती है)।

में समाहित है, इसलिये इनके प्रयोग से यज्ञ को पूर्ण बनाना चाहिये।[६०]

महाभारत और श्रीमद्भागवतपुराण में भी व्याहृति की चर्चा की गयी है, किन्तु नामनिर्देश नहीं किया गया। महाभारत में इनकी संख्या पाँच कही गयी है[६१], जब कि भा० पु० में संख्या का स्पष्ट कथन न कर व्याहृति को आन्वीक्षिकी, त्रयीवार्ता, दण्डनीति आदि विद्याओं के साथ रक्खा गया है[६२]। कूर्मपुराण में भूः, भुवः, स्वः को सनातन महाव्याहृतियों के नाम से अभिहित किया गया है, जो समस्त अशुभ को दूर करने वाली हैं तथा इनके साथ ही सत्त्व, रज और तम को व्याहृति कहा गया है, जो क्रम से प्रधानपुरुष काल के तीन रूप ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतीक हैं। ब्रह्मस्वरूप ओंकार के साथ इन व्याहृतियों सहित सावित्री मन्त्र सभी मन्त्रों (तत्त्वों) का सार कहा गया है।[६३]

स्मृतिकारों में याज्ञवल्क्य ने सप्त व्याहृतियों भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—की व्याख्या की है तथा इन्हें सात छन्दों और लोकों से सम्बन्धित किया है। इन सात लोकों के पश्चात् (ऊपर) ब्रह्म का स्थान है, जिसकी प्राप्ति ज्ञान-कर्म की निष्ठा वाले सत्यभाषियों को ही होती है, जिसे प्राप्त कर वे कभी नीचे नहीं आते अर्थात् जन्म-मरण से मोक्ष प्राप्त करते हैं।[६४]

---

६०. वही २७, ३, ४.

६१. महाभा० ३, २१०. ३ (भाण्डारकर ओरि० रि० इं० द्वारा सम्पादित)।

६२. भा० पु० ३, १२, ४४. आन्वीक्षिकीत्रयीवार्ता दण्डनीतिस्तथैव च। एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणयो ह्यास्य दह्रतः॥

६३. ॐकारमादितः कृत्वा व्याहृतिस्तदनन्तरम्।
ततोऽधीयीत सावित्रीमेकाग्रश्रद्धयान्वितः॥
पुराकल्पे समुत्पन्ना भूर्भुवः स्वःसनातनाः।
महाव्याहृतयस्तिस्रः सर्वाशुभनिवर्हणाः॥
प्रधानपुरुषः कालो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
सत्त्वं रजस्तमस्तिस्रः क्रमाद् व्याहृतयः स्मृताः॥
ॐकारस्तत्परं ब्रह्म सावित्री स्यात्तदक्षरम्।
एष मन्त्रो महाभाग सारात्सार उदाहृतः॥ (कूर्मपु०, उपविभाग, १३ अध्याय)।

६४. भूराद्याश्चैव सप्तान्ता सप्तव्याहृतयस्तथा।
लोकास्ता एव सप्तैते उपर्युपरि संस्थिताः॥
सप्तव्याहृतयः प्रोक्ताः पुरा यस्तु स्वयम्भुवा।
तदेव सप्तच्छन्दांसि लोकाः सप्त प्रकीर्तिताः॥
(वाचस्पत्यं पष्ठो भागः, पृ० ४६८६ से उद्धृत)।

इस प्रकार व्याहृति के इस विशद विवेचन से यह बात स्पष्ट प्रतिभासित होती है कि आर्य ऋषियों ने समस्त ब्रह्माण्ड को विभिन्न विभागों में विभक्त मानकर सभी के ऊपर परम पुरुष को अधिष्ठित माना और उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने के लिये व्याहृतियों को माध्यम बनाया। प्राण, वाक् आदि सभी में उस परब्रह्म का रूप-दर्शन किया और अपने को उस असीमित के साथ एकीकृत किया जो सच्चा आर्य है, वह सीमित होते हुए भी तीनों लोकों में अपने को व्याप्त देखता है और अपनी सीमित सत्ता को 'भूमा' या असीम के साथ इन व्याहृतियों का ध्यानकर एकाकर करता है तथा आनन्द की अनुभूति करता है।

———

ऋग्वेद में 'आशुशुक्षणिः'

ऋग्वेद में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग समस्त वैदिक साहित्य में एक बार ही हुआ है, जिन्हें Hapax Legomenon कहा जाता है। ऐसे शब्दों के अर्थ निर्धारण में सदैव कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं और विवाद के लिये नये-नये द्वार उद्घाटित होते रहते हैं। ऐसे ही शब्दों के अन्तर्गत ऋ० द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त के प्रथम मंत्र में प्रयुक्त 'आशुशुक्षणिः' शब्द भी सम्मिलित है। इसका सही अर्थ एवं सही निष्पत्ति विवादास्पद है। इसी समस्या के निराकरण के लिए यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

इस शब्द के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन व्याख्या यास्क के निरुक्त[1] में प्राप्त है; जहाँ पर इसकी व्याख्या "आशु इति चशु इतिचक्षिप्रनामानि भवतः, क्षणिरुत्तरतः क्षणोतेः आशु शुचा क्षणोतीति वा सनोतीति वा, आशुशोचयिषुरिति शुचिः शोचतेः ज्वलति-कर्मणः, इस प्रकार यहाँ यास्क ने आशु और शु को 'क्षिप्र' का पर्याय माना है और 'क्षणि' को 'क्षण्' धातु (हिंसित करना, मारना) से निष्पन्न माना है और इस प्रकार इसका अर्थ 'शीघ्रता से चोट पहुँचाने वाला या ज्वालाओं के माध्यम से प्राप्त करने वाला है।[2] इस सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रथमा का प्रयोग पञ्चमी के अर्थ में हुआ है। इस 'आशुशुक्षणिः' का प्रथम पद 'आ' उपसर्ग रूप में है और उत्तर पद√शुच् के सन्नन्त (Desiderative) रूप से निष्पन्न है जिसका अर्थ है, 'शीघ्रता से जलाने की इच्छा वाला' 'शुचि' शब्द भी '√शुचि दीप्तौ से निष्पन्न है।

निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या को विस्तार देते हुए कहा है कि 'आशुशु अति शीघ्रं क्षणोपि हिनस्सि शत्रून् इत्याशुशुक्षणिः[3]। 'वह जो अपने शत्रुओं को शीघ्रता से मारता है')।

स्कन्दस्वामी ने इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है 'सर्वस्य प्रकाशादि व्यापारस्यालौकिकरूपात्मना वा जायसे, पञ्चम्यार्थे वा शुशुक्षणिरित्येषा प्रथमा अस्मिञ्च पक्षे आङ्पूर्वस्य शुचेर्दीप्तिकर्मणः सनि एतद्रूपं, आदिदीपयिषोः पुरुषात्तेन

---

१. निरुक्त ६, १.

२. इस प्रकार समास का विश्लेषण आशु-शुक्-षणि होगा।

३. निरु० भा० ६, १

मथ्यमानो जायस इत्यर्थः'[४] (स्वर्गीय विद्युत के विभिन्न रूपों में तुम उत्पन्न होते हो, अथवा यहाँ शुशुक्षणिः प्रथमा ए० ब० में पञ्चमी ए० ब० के लिए प्रयुक्त है और इस रूप में यह आङ् पूर्वक √ शुच् में सन् प्रत्यय सहित निष्पन्न होगा और इस प्रकार इनका अर्थ 'प्रकाश की इच्छा वाला जो है ऐसे वह तुम अग्नि उत्पन्न होते हो' होगा सायण ने यास्क का अनुसरण करते हुए इसकी व्याख्या इस प्रकार की है "आ सर्वतो दीप्तिमानो भवसि, आङ्युपपदे शुच् दीप्तौ इत्येतस्य सन्नन्तस्य छान्दसमिदं रूपं यद्वा आशु शीघ्रं शुचः दीप्तः सन् यतः संसेव्यते इति; आशु शुचं शोकं सनोति ददाति शत्रुभ्यो दाहादिनेत्याशुशुक्षणिः तादृशो भवसि, एवं सर्वत्र प्रतिविशेषणं जायस इति योज्यम्'[५] (हे अग्नि तुम सर्वत्र दीप्यमान होते हो। शुच् धातु से आङ् उपसर्ग पूर्वक छन्दस् रूप है। अथवा शीघ्र दीप्त होकर जो सेवित होता है या जो शत्रु को शीघ्र शोक देता है वह आशुशुक्षणिः है)। इस प्रकार सायण ने यहाँ पर आशुशुक्षणिः की निष्पत्ति में 'शुच्' और 'सन्' दो धातुओं को प्रयुक्त माना है।

तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर मिश्र ने आशुशुक्षणिः की व्याख्या आर्द्री भूमिं शीघ्रमेव शोचयिता[६] रूप में प्रस्तुत की है। इसी प्रकार महीधर एवं उव्वट ने भी वाजसनेयि संहिता के भाष्य में इसकी व्याख्या आर्द्रां भूमिं शीघ्रमेव शोचयिता यद्वा आशु क्षिप्रं शुचा दीप्त्या क्षणोति हन्ति तमः सनोति सम्भजते वाऽशुशुक्षणिः'[७]। इस प्रकार इन व्याख्याकारों ने इसे 'शुच्' (प्रकाशित होना) 'क्षण्' (मारना) और 'सन्' (प्रदान करना) धातुओं के साथ 'आशु' उपपद जोड़कर इसकी निष्पत्ति की है। इससे स्पष्ट है कि इन व्याख्याकारों ने यहाँ पर आङ् उपसर्ग की उपस्थिति को स्वीकार नहीं किया है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी व्याख्याकारों ने यास्क द्वारा दी गई व्याख्या को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है।

यहाँ हमें आधुनिक व्याख्याकारों द्वारा दी गई व्याख्याओं का भी अवलोकन कर लेना चाहिए। ब्योहर्टलिंक (Boehtlingk) और रोठ (Roth) ने इसे विशेषण रूप में स्वीकार करते हुए आङ् उपसर्ग पूर्वक 'शुच्' धातु से निष्पन्न करते हुए इसका

---

४. वहीं.

५. ऋ० भा० २,१,१.

६. तै० सं० भा० ४, १, ३, ५.

७. वाज० सं० ११, २७.

अर्थ 'प्रकाशित होते हुए' (hervorblinkend) किया है।[८] ग्रासमान[९] ने इसी का अनुसरण किया है, गेल्डनर[१०] ने सायण का अनुसरण करते हुए इसका अर्थ 'जलाने की इच्छा वाला' (Brehnlustiger) किया है। ओल्डेनबर्ग[११], विल्सन[१२], ग्रिफिथ[१३] और वेलंकर[१४] ने, न तो कोई नवीन व्याख्या की है और न तो इस समस्या को सुलझाने का प्रयास ही किया है।

यदि इन समस्त व्याख्याओं का परीक्षण करें तो हमें ज्ञात होगा कि 'आशुशुक्षणिः' को हम इन चार धातुओं से निष्पन्न कर सकते हैं √शुच् (प्रकाशित होना, जलाना या कष्ट देना ; √शुष् (सुखना या शोषण करना) √सन् (देना) और √क्षण् (मारना, चोट पहुँचाना); इन सभी के पूर्व आङ् उपसर्ग होगा या आशु उपपद होगा। इन उपपदों एवं धातुओं के अतिरिक्त कुछ अन्य सम्भावनाएँ भी हैं जिनसे हम आशुशुक्षणि को निम्नलिखित रूप में विश्लेषित कर सकते हैं—

(१) आ + शुच् + सनि < आ + शु + शुक् + सनि > आ + शुशुक्षणिः
(२) आ + शुष् + सनि < आ + शु + शुष् + सनि = आशुशुक्षणि
(३) आशु + शुच् + सनि = आशुशुक्षणि —
(४) आशु + शुच् + क्षण् + इ = आशुशुक्षणि
(५) आशु + शुच् + सन् + इ = आशुशुक्षणि
(६) आ + शुच् + क्षण् + अनि = आ + शु + शुक् + क्षण् + अनि
(७) आ + शुष् + सन् + अनि = आशुशुक्षणि

इन निष्पत्तियों से निष्पन्न समास का अर्थ क्रमशः इस प्रकार होगा—

(१) चारों ओर प्रदीप्त या चमकता हुआ।
(२) जो चारों ओर से सुखाता है।
(३) जो शीघ्रता से प्रकाशित होता है।
(४) जो अपने प्रकाश या चमक से तत्काल मारता है।
(५) जो अपनी चमक से शीघ्रता से दुःख देता है।

---

८. Sans, Woert.
९. Woert. zum RV., P. 188.
१०. Der RV Pt. I, P. 275.
११. SBE. 46, P. 186.
१२. RV. Trans. vol. 2, P. 120
१३. Hymns from the RV. Pt. I, P. 2,9
१४. RV. M, II. P. 3.

(६) जो अपनी चमक से मारता है और

(७) जो शुष्कता प्रदान करता है।

उपर्युक्त सभी निष्पत्तियों के माध्यम से जो अर्थ प्राप्त होते हैं उन सभी का सीधा सम्बन्ध अग्नि के साथ जोड़ा जा सकता है किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में 'मारक' या 'शोषक' अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यहाँ स्पष्ट रूप से कवि के मन में अग्नि की चतुर्दिक प्रतिभा या प्रकाश निहित है इसलिए 'शुच दीप्तौ' धातु का प्रयोग ही यहाँ मान्य प्रतीत होया है। यहाँ अग्नि के जन्म का उल्लेख है जो उत्पन्न होते ही चारों ओर अपना प्रकाश विकीर्ण करता है साथ ही कवि ने यहाँ इसी मंत्र में अग्नि के लिए 'शुचिः' विशेषण का प्रयोग भी किया है। इसके अतिरिक्त इस मंत्र के बाद में आने वाले अन्य मंत्रों में अग्नि की अच्छाइयों और कल्याणकारी प्रवृत्तियों का उल्लेख है इसलिये इस सन्दर्भ से अग्नि के अच्छे गुणों पर ही प्रकाश पड़ता है अतः आशुशुक्षणिः भी अग्नि के चतुर्दिक प्रकाश और पवित्रता को ही द्योतित करने वाला शब्द है। इस-लिये इस सामासिक पद को शुच धातु से ही निष्पन्न करना अधिक संगत जान पड़ता है। यहाँ शुच् धातु का अभ्यस्त रूप व्याकरण के नियमों के विपरीत प्रतीत होता है क्योंकि शुच् धातु और 'सनि' प्रत्यय को अभ्यास (द्वित्व) की आवश्यकता नहीं पड़ती; किन्तु ऋ० में शुच् के अभ्यस्त प्रयोग की प्रवृत्ति प्रायः दिखाई देती है उदाहरणार्थ हम शुच् धातु से निष्पन्न इन प्रयोगों को देख सकते हैं—शुशुक्वनम् (ऋ० १,१२२,३), शुशुक्वनिः (ऋ० ८, २३,५), शुशुक्वान्सः (ऋ० ५,८७,६), शुशुक्वान् (ऋ० १,६९,१), शुशुग्धि (ऋ० १,९७,१), शुशुचान (ऋ० ४,१,३) शुशुचानः (ऋ० १,४,६;१०,९८,८), शुशुचानम् (ऋ० ४,१,१६), शुशुचानस्य (ऋ० ४,२२,८), शुशुचानाः (ऋ० २,३४,१) शुशुचानासः (ऋ० १,१२३,६), और शुशुचीत (ऋ० २,२,१०;१०,४३,९)।

उपर्युक्त सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि ऋ० में प्रयुक्त 'शुच्' धातु में अभ्यास की प्रवृत्ति है। आशुशुक्षणि में भी 'शुच् के अभ्यास को ग्रहण किया जा सकता है और इस प्रकार प्रस्तुत समास में आशु उपपद की उपस्थिति असम्भाव्य है और इस प्रकार जब आशु उपपद की सम्भावना समाप्त हो जाती है तो यह भी स्पष्ट है कि इस समास के संरचना में 'शुष्' (शोषण करना) धातु का कोई स्थान नहीं है। यह बात उपर्युक्त सन्दर्भ के अर्थों के द्वारा भी सिद्ध होती है जहाँ 'शोषण करने' या 'सुखाने' अर्थ की उपयुक्तता का बहिष्कार किया गया है।

जहाँ तक स्वर-विवेचन का प्रश्न है यह समास पाणिनि के 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (पा० अष्टा० ६,२,१३९) के अनुसार यह तत्पुरुष समास है और इस आधार पर

इसमें उदात्त स्वर उत्तर पद पर होगा। इसलिए आ या आशु उपपद के निश्चय में स्वरविधान का कोई स्थान नहीं है क्योंकि इन दोनों की उपस्थिति में स्वर अपने ही स्थान पर रहेगा। 'रुरुक्षणिः' (ऋ० ६,४८,२) 'आशुषाणः' (ऋ० ५,३६,४) के तादात्म्य से भी हम यह कह सकते हैं कि इस समास में 'आ' उपपद है। इससे यह स्पष्ट है कि आशुशुक्षणिः 'शुच्' धातु के अभ्यस्त रूप से निष्पन्न है 'शुष्' से ही नहीं और इसमें 'आ' उपपद है 'आशु' नहीं। इस प्रकार इसका अर्थ—"जो चारों ओर प्रकाशित होता है या चारों ओर से पवित्र करता है"—होगा।

पदपाठकार शाकल्य ने इसका विश्लेषण नहीं किया। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इसका पदपाठ आऽशुशुक्षणिः होगा।

— —

अवेस्ता और ऋग्वेद में नैतिकता की अवधारणा

ऋग्वेद का यह कथन कि 'पुलुकामो हि मर्त्यः'[1] 'मनुष्य अनेक कामनाओं वाला है' प्राचीनकाल से लेकर आज तक मानव मस्तिष्क की व्यापक कथा का परिचायक है। उसकी ये अनेक कामनाएँ उसके जीवन के बहुविध कार्यों की नियामक होती है, जिनके अन्तर्गत नैतिक एवं अनैतिक कर्मों का समावेश सम्भाव्य है। व्यक्ति को, समाज को अथवा जीवन को एक सुनिश्चित एवं व्यवस्थित विकास की गति देने के लिए यह आवश्यक है कि जीवन को कुछ विशिष्ट नियमों के अन्तर्गत आबद्ध किया जाय। इन्हीं विशिष्ट नियमों की कल्पना का साकार रूप ही नैतिक अवधारणा के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है। यह नैतिक अवधारणा मानवीय सृष्टि के विकास के साथ ही सदैव परिवर्तनशील एवं गतिशील रही है। वैदिक काल के समाज ने जिन नैतिक अवधारणाओं के अन्तर्गत अपने जीवन एवं समाज को व्यवस्थित किया होगा। वह उनके पूर्वकालीन समाज की नैतिक पृष्ठभूमियों पर आधारित रहा होगा। साथ ही जिन विचारों के माध्यम से उन्होंने नैतिक धारणाओं की स्थापना की होगी। वे मात्र उन्हीं के रहे हों ऐसा नहीं है वरन् सृष्टि के अनन्त मानवीय समाज की मानसिक पृष्ठभूमि पर विकीर्ण अनन्त रूपों में विकसित नैतिक धारणाओं के अङ्ग रहे होंगे। प्राचीन भारतीय समाज का बहुत निकट का सम्बन्ध प्राचीन ईरानी समाज के साथ रहा है। जैसा कि यह प्रसिद्ध है कि वैदिक और ईरानियन धर्म एक दूसरे के बहुत समीप रहे हैं, और उनके सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विचार आपस में बहुत समान रहे हो अतः उनकी नैतिक मान्यताओं का तुलनात्मक अनुशीलन ऋग्वेद और अवेस्ता के साहित्य के माध्यम से करना अधिक समीचीन होगा।

नैतिकता के दो पहलू होते हैं एक व्यष्टि की नैतिकता (Herren Moral) जो किसी एक विशिष्ट व्यक्ति के नैतिक आचार-विचार से सम्बन्धित हो। दूसरी समष्टि की अथवा किसी विशिष्ट समूह की नैतिकता (Heerden Moral)। विश्व के अधिकांश धर्मों में प्रायः समष्टि की नैतिकता से व्यष्टि की नैतिकता का विकास हुआ है। वैसे इसके विपरीत भी कहा जा सकता है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता[2] में

---

१. ऋ० १. १७९ ५.

२. भगवद्गीता ३. २१

भगवान कृष्ण ने कहा है कि जैसे-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति आचरण करता है वैसे-वैसे ही समष्टि या लोक उसका अनुसरण करता है, किन्तु जहाँ तक समाजशास्त्रीय नियमों की बात है वहाँ यह मानकर चला जाता है कि समष्टि की नैतिक अवधारणाएँ ही प्रबल होती हैं, और उन्हीं से व्यष्टि में उनका ग्रहण होता है। अवेस्ता और ऋग्वेद में नैतिक अवधारणाओं की गतिशीलता समूह से व्यक्ति की ओर या रीति-रिवाजों से अन्तरात्मा की ओर प्रवहमान प्रतीत होती है किन्तु जहाँ सामूहिक नीतिशास्त्र की जो विकृतियाँ हैं वे किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण के माध्यम से परिष्कृत होकर विकसित नैतिक धारणाओं का स्वरूप धारण करती हैं।[3] अवेस्ता में सैद्धान्तिक रूप से यह कहा गया कि जो जैसा करेगा वैसा फल पायेगा।[4] उदाहरणार्थः—

ता थ्वा पॅरॅसा, अहुरा, या ज़ो आइति जॅंघतीचा
याओ इषुदो ददन्ते दाथ्रनाँम् हचा अषाउनो,
याओस्-चा मज़्दादा द्रॅग्वोदॅब्यो,
यथा ताओ अंघॅन हॅंकॅरॅता ह्यत्,[5]

"हे अहुर तुमसे मैं यह पूछता हूँ, जैसा कि 'मुझे तुमसे ज्ञात हुआ है भाग्य हमारे ऊपर कैसे अब तक प्रभावशाली रहा और कैसे आगे रहेगा; अच्छे और सच्चे आदमियों की किन अव्यक्त कामनाओं को जीवन की पुस्तक में अङ्कित किया गया, वे कौन सी कामनाएँ हैं जो असत्य का अनुसरण करती हैं और जीवन का लेखा-जोखा समाप्त होने पर ये कैसे स्थित रहती हैं।"[6]

इस प्रकार व्यष्टि की नैतिकता को जीवन की पुस्तक में अङ्कित माना गया। इसी के समान ऋग्वैदिक ऋषियों ने व्यक्तिगत पापादि की चर्चा विभिन्न मन्त्रों में की है।[7] उदाहरणार्थ—

'किम् आग आस वरुण ज्येष्ठम्
यत् स्तोतारम् जिघांससि सखायम् ॥'[8]

'हे वरुण हमारा वह कौन सबसे बड़ा पाप था जिसके कारण तुम अपने इस मित्र का हनन करते हो।'

---

३. M. N. Dhaila, 'Zorostrian Theology' New York, 1914. P. 14.
४. यस्न ३०, ११; ११; ३१, १४; २०; ४३. ५; ४५. ७; ५१. ६; ८; ६.
५. यस्न ३१. १४, (वैदिक संशोधन मण्डल पूना से प्रकाशित अवेस्ता पर आधारित पाठ)
६. अनुवाद का आधार—I. J. S. Taraporewala, The Divine Songs of Zarathustra (Bombay 1951) p. 221.
७. ऋ० २.२८-५; २९-१; ५; ५, ३, १२; ७, ८६, ३; ४; १०, १३७, १.
८. ऋ० ७, ८६, ४.

किन्तु सामूहिक नैतिकता का स्थान इससे भी ऊँचा था जैसा कि वैदिक ऋषियों ने सामूहिक पाप राहित्य की कामना की है।[९] उदाहरणार्थ—

'यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो
वयं स्याम वरुणे अनागाः'॥[१०]

'जो अपने पापी स्तोता पर भी दया करता है उस वरुण के अन्तर्गत हम लोग पाप रहित होवें।'

इस प्रकार इससे प्रतीत होता है कि लोग सामूहिक उत्तरदायित्वों के प्रति अधिक जागरूक थे। यदि उस समूह का कोई भी व्यक्ति अवैधानिक कार्य करता था तो उसके परिणाम का भागी सम्पूर्ण समूह को माना जाता था। यहाँ तक कि पितरों के द्वारा किये गये कर्मों का फल भी भोगने के लिए लोग मानसिक दृष्टि से तैयार रहते थे। वसिष्ठ ने वरुण से पितृ सम्बन्धी पापों से मुक्त करने की प्रार्थना की है और साथ ही स्वयं उनके द्वारा किए गए अथवा उनके समूह के द्वारा किये गये—

'अवद्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव
या वयं चकृमा तनूभिः।'[११]

''हे वरुण, हमें उन पापों से मुक्त करो जिन्हें हमारे पितरों ने किया है और जिनको स्वयं हमने अपने शरीरों द्वारा किया है।''

इससे इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि ऋग्वैदिक काल में लोग व्यष्टिकृत अथवा समष्टिकृत कार्यों के प्रति और उनके परिणामों के प्रति निरन्तर जागरूक थे।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, जो मन, वाणी अथवा शरीर से या मनस्, वचस् और कर्म से सम्बन्धित हैं, नैतिकता के विभिन्न रूप हैं। समाज की विभिन्न पृष्ठभूमियों पर प्रत्येक व्यक्ति से विभिन्न प्रकार के व्यवहारों की आकांक्षा की जाती है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में सदैव व्यक्तिगत व्यवहारों में सामंजस्य की अपेक्षा रहती है। इसीलिए प्रत्येक समाज में उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप मानवीय व्यवहारों से सम्बन्धित विभिन्न विधि विधानों का आकलन किया जाता है। जैसा कि यह ज्ञात है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार सुनिश्चित नहीं रहता, बिना किसी विधि-विधान के निरूपण किये हुए कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। अतः सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में कुछ नियमों में आबद्ध सामान्य व्यवहारों की सदैव अपेक्षा बनी रहती है। जिससे कि समाज किसी भी रूप

---

९. ऋ० १, १७९, ५; १८५, ८; २, १७, १४; ४, ३, ५; १२, ४: ५, ३, ७; ; २; ८५, ७; ७, ५७, ४, ७, १०, १३७, १.

१०. ऋ० ७, ८७, ७.

११. ऋ० ७, ८६, ५.

में विश्रृंखलित न हो। यही विचारधाराएं नैतिक नियमों के रूप में आबद्ध की जाती हैं जो समाज में मनुष्य के व्यवहारों का नियमन करती है। अवेस्ता और ऋग्वेद में नैतिकता सम्बन्धी यह नियमन प्रायः समान रूप से परिलक्षित होता है।

(१) अष् और ऋत में नैतिक मूल्यों का समावेश–अवेस्ता में अष् का सत्यवान्, औचित्यपूर्ण, धार्मिक, श्रद्धालु आदि रूपों में मानवीयकरण किया गया है। समस्त प्रकार की पवित्रता का वह प्रतीक है और यही अष् वहिश्त (संस्कृत का ऋत-वसिष्ठ) के रूप में देवदूत है और साथ ही स्वर्ग के रूप (आधुनिक परशियन में वेहिश्त) में प्रतिष्ठित है। सत्य की यही अवधारणा धर्म के अन्तिम लक्ष्य की ओर, विश्व की पुनः सृष्टि की ओर, सर्वोत्तम की उपलब्धि की ओर, और समस्त प्रकार की अपवित्रता बुराइयों एवं मृत्यु से मुक्ति की ओर सङ्केत करती है।[१२] अवेस्ता में अष् के अनुसार जीवित रहना बार-बार बतलाया गया है—"या अषात् हचा ज्वामही—यस्न ३१ २.

'जिससे कि हम लोग अष् के अनुसार जीवित रह सकें।" अवेस्ता में अषवन् सत्य अथवा सच्चाई के प्रतिनिधि के रूप में और द्रॅग्वन्त् (बुराई) के विरोधी के रूप में निरन्तर नामकरण है। अवान्तर काल में यही 'अष् वहिश्त' अग्नि के ऊपर अधिष्ठित देवता एवं परिपूर्ण पवित्रता के प्रतीक के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[१३] प्रत्येक व्यक्ति से यह आकांक्षा की जाती है कि वह अष् वहिश्त के नियमों या आदेशों के अन्तर्गत जीवनयापन करें। यदि किसी ने सत्य के इस मार्ग से अपने को विचलित किया तो निश्चित् ही वह दुष्परिणामों का भागीदार होगा।[१४] जिस प्रकार हमें अवेस्ता में अष् दैवी नियमों का नियामक और प्रत्येक व्यक्ति उसके नियमों का अनुसरण करता प्रतीत होता है। उसी प्रकार ऋग्वेद में ऋत् समस्त सृष्टि का नियामक है जिसके आदेश, व्रत अथवा नियम का पालन समस्त प्राणी करते हैं। इन व्रतों के विपरीत यदि कोई आचरण करता है तो उसे अव्रत कहा जाता है और उसे उसका परिणाम भोगने के लिए अन्धकार से परिपूर्ण लोकों में गमन करना पड़ता है—

"परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।
प्र यद् दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः॥[१५]

"हे इन्द्र, वे लोग जो यज्ञ करने वालों से स्पर्धा करते हैं ऐसे वे यज्ञ न करने

---

१२. **A. A. Macdonell,** Lectures on Comparative Religion, University of Calcutta, 1925; P. 50.

१३. **A. V. W. Jackson,** An Avesta Grammar, Stuttgart 1892, P.L xxv.

१४. **Yasna 45. 9.**

१५. ऋ० १. ३३, ५.

वाले पराङ्मुख होकर दूर भाग जाते हैं। उग्र और अश्वों के स्वामी इन्द्र जब तुम व्रत का पालन न करने वाले लोगों को स्वर्ग से, धरती से और आकाश से दूर करते हो।"

ऋत जो सत्य का प्रतीक है वह नैतिक और यज्ञीय शाश्वत् नियमों का रूप भी माना जाता है इसलिए इसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। वरुण के साथ इसका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो वरुण ऋग्वैदिक समाज में नैतिकता के देवता के रूप में प्रतिष्ठित रहा है।[१६] उसके व्रत तोड़े नहीं जा सकते हैं (अदब्धानि व्रतानि),[१७] और इस वरुण को महत्वपूर्ण धृतव्रत[१८] से युक्त किया गया है। देवता भी इसके आदेश का पालन करते हैं।[१९] वह सर्वज्ञ है इसलिए कोई इससे बच नहीं सकता है,[२०] उसकी सर्वज्ञता और सार्वभौमिकता विशिष्ट रूप वाली है। उसके आदेश के बिना कोई भी प्राणी पलक नहीं गिरा सकता।[२१] यदि कोई व्यक्ति ऋत के नियम अथवा वरुण की इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है तो वह वरुण के पाश में आबद्ध होने का अधिकारी होता है और केवल वरुण ही उसे उस पाश से मुक्त कर सकता है।[२२] इस प्रकार अवेस्ता और ऋगवेद दोनों के धर्मों में अष् अथवा ऋत अथवा सत्य का नियम समान है और यह नैतिक अवधारणाओं में श्रेष्ठ माना जाता है। जो भी व्यक्ति अष् अथवा ऋत के आदेश का पालन नहीं करते वे अनषवन् और अनृतावन् कहे जाते हैं, और वे अपने-अपने धर्मों के प्रति विश्वास पात्र नहीं माने जाते, यही कारण है कि अवेस्ता और ऋगवेद दोनों में उन्हें क्रमशः 'द्रुज' और 'द्रुह' की संज्ञा दी गई जो दोनों 'अष्' और 'ऋत' के विरोधी हैं। जिस प्रकार अष् का द्रुज' का नाश करने के लिए आह्वान किया जाता है वैसे ही ऋत से सम्बद्ध देवताओं को द्रुह का नाश करने के लिए पुकारा गया है[२३]—

वइनीत् अहमि न्माने स्रओषो
अस्रुष्तीम आख्ति.तश् अनाख्.तीम्
वाइतिश् अराइतीम् आर्मइतिश्

---

१६. **H. D. Griswold**, The Religion of the Rigveda, Oxford 1923; P 122 ff.

१७. ऋ० १. २४, १०; ३. ५४, १८.

१८. ऋ० १, २५, १०, ८, २१. ३.

१९. ऋ० १, २४, १०.

२०. ऋ० २. २७, ३; ४.

२ . ऋ० ७. २७, ३, ६, ७८, ७, ८८, ७.

२२. ऋ० २, २७, १६.

२३. ऋ० १, १२१, ४; १३३, १; २, २३, १७; ४, २८, २.

तरोमइतीम् अधुंख्यो वाक्षू
मिथओरन्तम् वाचिम् अष-द्र्जम्—यस्न ६०.५.

"इस गृह में स्रओष असत्य को जीते और शान्ति यहाँ अशान्ति पर विजय प्राप्त करे; उदारता अनुदारता पर, श्रद्धा घृणा पर, सत्यमय वाणी असत्यवाक् पर (विजय प्राप्त करे)। सत्य व्रत वाली वाणी असत्यवाची द्रुज को जीते।[२४]"

(२) **मानवीय कर्म**—अवेस्ता में सभी मानवीय कर्मों को विचारों, शब्दों और कर्मों में बांटा गया है जिन्हें दूसरे शब्दों में मानसिक, वाचिक, शारीरिक कर्म भी कह सकते हैं। प्रत्येक मानव इन्हीं तीनों के अन्तर्गत कार्य करता है अत: नैतिक विचार-धाराओं को इन्हीं तीनों के साथ सम्बद्ध किया गया है। यह कर्म दो प्रकार के हैं अच्छे और बुरे। सत्यशील व्यक्ति को इन्हीं दोनों में विभेद करना पड़ता है और जो कल्याणकारी है उसका चुनाव करना पड़ता है जैसा कि निम्नलिखित गाथा में सङ्केत किया गया है :—

अत् ता मइन्यू पओरुये या येमा ख्वफॅना अरुवतॅम्
मननि चा वचनि-चा श्यओथनोइ हि वह्यो अकॅमृचा
आोस्चा हुदाोङ्हो अॅरॅश् वीश्याता नोइत् दुज्दाोङ्हो।

—यस्न ३०. ३.

"इस प्रकार प्रारम्भ में केवल दो आत्मायें थीं, जिन दोनों ने अपने को जुड़वाँ रूप में प्रकट किया; अपने अपने विचारों और शब्दों में अच्छी प्रकार कार्य करते हुये, दोनों में एक ने अच्छे और दूसरे ने बुरे रूप में (अपने को प्रकट किया)। इन दोनों में बुद्धिमान अच्छे को वरण करता है, किन्तु दुष्ट बुद्धि वाला ऐसा नहीं करता।"[२५] पुण्यात्मा (स्पेन्त मइन्यू) ने अवेस्ता की प्रथम गाथा में ही मानवीय कर्मों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं :—

अह्या यासा नॅमङ्हा उस्तान ज़स्तो रफॅध्रह्या
मइन्येउश् मज़्दा पओर्वीम् स्पॅन्तह्या अषा वीस्पॅङ्ग श्यओथ्ना
वङ्हेउश खतूम् मनङ्हो या क्षनॅवीषा गेउश्चा उर्वानॅम्।

—यस्न २८. १.

"उत्तान हाथों से मैं उसकी प्रार्थना पूर्ण आनन्द के लिये करता हूँ। हे मज्दा, प्रथमतः मैं अष द्वारा प्रेरित कर्मों के द्वारा समस्त ज्ञान हेतु (प्रार्थना करता हूँ); वसु

---

२४. अनुवाद सैक्रेड बुक्स आव् द ईस्ट, वाल्यूम ३१, पृ० ३११ के आधार पर.
२५. तारापुर वाला, वही, पृ० १३६

मन को प्रतिमा के लिये (प्रार्थना करता हूँ) और इस प्रकार माँ धरती की आत्मा की शान्ति या धैर्य को मैं स्थापित करूँगा।"[२६]

जिस प्रकार हमें अवेस्ता में विचार शब्द और कर्म की शुचिता का बार-बार उल्लेख मिलता है, वैसे ही ऋग्वेद में भी समस्त कर्मों की सत्यता पर बल मिलता है। मन, वचन, कर्म में सत्य का समावेश ही शुभ परिणामों का प्रदाता माना गया है।—ते सत्येन मनसा दीध्याना :—(ऋ० ७. ६०. ५) "सत्यमन से ध्यान करते हुए लोग··· ··" या—'ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः (ऋ० ९. ११३. २) 'सोम का अभिषव सत्ययुक्त वाणी, श्रद्धा, तपस् से किया जाता है।" यहाँ तक कि इस धरती का स्तम्भन ही सत्य के द्वारा है—

"सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ।। ऋ० १०।८५।१.

सत्य के द्वारा भूमि उत्तम्भित है और सूर्य के द्वारा आकाश उत्तम्भित है, ऋत् के द्वारा आदित्य प्रतिष्ठित है और द्युलोक में सोम् अधिष्ठित है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सत्य का मन पर, वाणी पर और कर्म पर पूर्ण प्रभाव है। यदि कोई सत्य का अनुसरण नहीं करता है तो उसके विरोधी उसकी बुराइयों का अनुसरण करते हैं अर्थात् वह बुराइयों के द्वारा ही निर्देशित होता है—

"द्रुहः सचन्ते अनृता जनानाम्
न वाम निण्यान्यचिते अभूवन्—ऋ० ७. ६१. ५;

लोगों के अनृत का उससे द्रोह करने वाले लोग सेवन करते हैं हे मित्र और वरुण तुमसे जानने के लिए कुछ भी नहीं छिपा है।"

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर असत्य से रक्षा करने के लिए देवताओं का आह्वान किया गया है।[२७] ऋषियों ने देवताओं की बार-बार प्रार्थना की है कि वे उन्हें ऐसी शक्ति दे जिससे वे सत्य को छोड़कर कुछ भी न बोले।[२८] सूर्य के द्वारा सत्य का विस्तार किया गया है,[२९] और वह समस्त सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण करता है।[३०] मानवीय कार्यों का निरीक्षण करते हुए देवताओं के गुप्तचर (स्पशः) निरन्तर सभी स्थानों पर भ्रमण किया करते हैं। अतः कोई भी व्यक्ति अपने पाप को छिपाने

---

२६. वही, पृ० ८६.
२७. ऋ० १, २३. २२; १५२.३; ७. २८. ४; ८. ६२, १०; १०, १०, ४, ६७, ४; १००, ७; १२१,५.
२८. ऋ० १,६०, २; १५२, ३; १८५, १०; ३, ३०, ६; ५५, ३; ४, २. १४.
२९. ऋ० १, १०५, १२- सत्यं तातान सूर्यः
३०. ऋ० ७, ६३, १.

के लिए उनसे बच नहीं सकता।[31] इस प्रकार सत्य की अवधारणा से समस्त मानवीय कर्म आवेष्टित हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों में पवित्रात्मा अथवा देवताओं और मानवीय प्राणियों के मध्य का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ है। मानव-मुक्ति उसके नैतिक गुणों पर आधारित है जिसके अनुसार उसे अपने जीवन के चरम लक्ष्यों की ओर आगे बढ़ना है। वह अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है बल्कि प्रकृति अथवा अनन्त शक्ति के सुव्यस्थित एवं सुनिश्चित नियमों का पालन करते हुए उसे अपने जीवन में शान्ति और कल्याण का अन्वेषण करना है। यदि वह इनके अनुसार कार्य नहीं करता है तो सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में उसे सुख-सुविधा, वैभव और शान्ति की उपलब्धि नही हो सकती। अवेस्ता और वेद के लोगों की इस प्रकार की कर्म सम्बन्धी नैतिक धारणाएँ थीं।

(३) विवाह और नैतिकता—वैदिक और ईरनियन लोग पारिवारिक सम्बन्धों, मानसिक और शारीरिक पवित्रता के प्रति बहुत ही अधिक जागरुक थे। अवेस्ता में हर प्रकार के दुर्व्यवहार, वेश्यावृत्ति, गर्भपात आदि की बहुत अधिक भर्त्सना की गई है। सुखी वैवाहिक जीवन और सुन्दर पति की कामना वहाँ प्रत्येक नारी करती प्रतीत होती है।[32] इन सब बातों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सुखी वैवाहिक जीवन का आधार अनेक प्रकार के नैतिक सिद्धान्त थे।

ऋग्वेद में हमें ऐसे अनेक सङ्केत मिलते हैं जिनके आधार स्त्री घर की रक्षिका समझी जाती थी और इसलिए उसे गृहपत्नी कहा गया है—

"गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो"
वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥"[33]

जब पति उसका पाणिग्रहण करता है तो वह उसे आनन्द, समृद्धि एवं सौभाग्य के लिए ग्रहण करता है।[34] सम्पत्ति के लिए दीर्घ जीवन की कामना की गई है।[35] जिससे वे दोनों सन्तानों सहित आनन्दित हो सकें।[36]

३१. ऋ० ४, ४, ३; १३, ३, ६, ६७, ५; ७, ६१, ३; ४८७, ३, ९, ७३, ४; १०-१०. ८.
३२. यश्न ९, २३.
३३. ऋग्वेद १०—८५—२६.
३४. ऋ० १०, ८५, ३३.
३५. ऋ० १०;८५;३५.

३६. ऋ० १०;८५;४१.

इस वैवाहिक जीवन के माध्यम से नारी परिवार में समृद्धि, सौभाग्य एवं आनन्द का निवेश करती है।[३७] पत्नी का सुख पति के सुख में निहित है।[३८] और वह सदैव पति के युवा होने की कामना करती है।[३९] इसी प्रकार पति का सुख उसकी पत्नी में निहित है अतः वह उसके समीप गमन करता है।[४०] यदि वह किसी नारी जो न तो प्रशंसनीय है और न उससे सम्बन्धित है, के साथ संगमन करता है तो वह निश्चय ही अन्धकार से परिपूर्ण सृष्टि या नरकगामी होती है।[४१]

(४) **परपत्नी गमन, बहुविवाह और वैश्यावृत्ति**—हमारे नैतिक जीवन का सबसे बड़ा अवरोध इन्द्रियजन्य आकर्षण और संवेग हैं। इन आवेगों के प्रति संयम यदि न किया जाय तो वे हमारी आन्तरिक शक्तियों को देय उपलब्धियों की ओर गतिशील बनाएँगे। प्राचीन ईरानी समाज एवं वैदिक कालीन समाज इन सम्भावनाओं के प्रति सजग रहा है। यही कारण है कि अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों में कौटुम्बिक व्यभिचार, परनारीगमन, बहुविवाह, वैश्यावृत्ति आदि की भर्त्सना की गई है। इस प्रकार की बुराइयों में संलग्न नारियों को अवेस्ता में 'जहीका' और 'यातुमति' के नाम से अभिहित किया गया है। उनके सम्बन्ध में यह धारणा थी कि वे पुरुषों के मन को कलुषित करती थी इसीलिए देवदूतों द्वारा अभिशप्त मानी गई हैं।[४२]

ऋग्वेद में हमें अनेक प्रकार के परनारीगमन सम्बन्धी रूप मिलते हैं—

(क) वह व्यक्ति जो दूसरी नारी की सहमति प्राप्त कर उसके समीप गमन करता है।[४३]

(ख) जो सोते हुए दम्पति के समीप गमन करता है।[४४]

(ग) जो अभिचार मन्त्रों के द्वारा किसी नारी को वश में करता है।[४५]

(घ) जो अन्धकार में अथवा उसके ज्ञान के बिना किसी नारी को अपवित्र करता है।[४६]

---

३७. ऋ० १०, ८५ ४२; ४७.
३८. वही ६, ८२, ४.
३९. वही १, १०५, २.
४०. वही १, ८२, ५; ११७, २०.
४१. वही ४, १८, १३.
४२. यश्त ९, ३२.
४३. ऋ० १०, १६२, ४.
४४. वही
४५. ऋ० १०, १६२, ६.
४६. वही

(ङ) जो स्वयं अपनी भगिनी का पति बनता है या उसके साथ व्यभिचार करता है।

ऋग्वेद में व्यभिचारी को जार और व्यभिचारिणी को जारिणी कहा गया है। जार शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है,[४८] जबकि जारिणी का प्रयोग मात्र एक स्थान पर।[४९] यह बात हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है कि ऐसे कर्मों के प्रति पुरुष नारी से अधिक उत्तरदायी होता था। दूसरी बात जो इन साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध होती है वह है भाई और बहिन के मध्य अनुचित सम्बन्धों की परिकल्पना। सम्भवतः ऋग्वैदिक कालीन समाज में यह एक सामान्य बात थी जिसके परिणामस्वरूप भाई-बहिन के समीप जार के रूप में गमन करता है,[५०] और सम्भवतः इसी लोक व्यवहार ने यमी को यम को कामुक व्यवहार के प्रति प्रेरित करने का साहस दिया।[५१] किन्तु यम जैसे नैतिक विचारों से परिपुष्ट व्यक्ति ऐसे सम्बन्धों के अत्यन्त विरोधी रहे हैं और ऐसे कर्मों की निरन्तर भर्त्सना की और कहा कि ऐसे कर्म वरुण के व्रत के विरुद्ध है जो मनुष्यों के कार्य का निरन्तर निरीक्षण करता है,[५२] साथ ही इसे पाप की संज्ञा भी दी गई।[५३]

जार शब्द के प्रयोग के माध्यम से जो दूसरी बात प्रकट होती है वह कन्याओं के साथ सम्बन्धों की है। ऐसा प्रतीत होता है कि कन्याओं के साथ दुर्व्यवहार सम्बन्धी सम्बन्ध अन्य नारियों की अपेक्षा अधिक थे क्योंकि जार के साथ इनके सम्बन्धों की चर्चा प्रायः की गई है।[५४] कभी-कभी ऐसी भी युवतियों की चर्चा है जो अपने प्रेमियों के समीप गमन करती थीं जिनके परस्पर सम्बन्ध बहुत ही आनन्द-

---

४७. ऋ० १०, १६२, ५.

४८. ऋ० १, ४६, ४; ६६, ४; ६६; १; ६, ५५, ४; ७, ९; १, १०, १.

४९. ऋ० १०, ३४, ५.

५०. स्वसुर जार :—ऋ ६, ५५, ४; ५; स्वसारं जार :— १०,३,३, भ्राता......
जारो भूत्वा निपद्यते ऋ– १०, १६२–५.

५१. ऋ० १०, १०, १–१४.

५२, १०, १०–२, ५, ६, ८, ९.

५३. 'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' ऋ० १०, १०, १२.

५४. 'जारः कनीनाम्' ऋ० १, ६६, ४, 'जारः कनीन इन' ऋ० १, ११७,८.
'प्रयन्तमित परिजारं कनीनाम्' ऋ० १,१५२, ४.
जारं न कन्या' ऋ० ९, ५६, ३.

पूर्ण रहे हैं।[५५] चाहे जो भी रहा हो परनारीगमन की निन्दा निरन्तर कीं गई है और ऐसे व्यक्तियों के प्रति सदैव यह कामना की गई है कि वे नाश और मृत्यु को प्राप्त करें।[५६]

ऋग्वेद में बहुविवाह प्रथा सम्बन्धी निश्चित अवधारणा का अभाव है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि कोई भी नारी अपने पति के समीप अन्य नारी को नहीं देखना चाहती क्योंकि सपत्नी-नाश की चर्चा अनेक बार प्राप्त होती है।[५७] जैसा कि निश्चित है कि कोई भी सपत्नी प्रथम पत्नी के ऊपर शासन कर सकती थी।[५८] अतः पहली पत्नी ने सदैव अभिचार मन्त्रों के माध्यम से सपत्नी के नाश करने की कामना की और अपने पति के मन की अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उसने सदैव प्रयास किया। ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त इस प्रकार के प्रयोग के प्रति समर्पित है।[५९] इससे यह प्रतीत होता है कि वैदिककाल में बहुविवाह की प्रथा पूर्ण रूपेण अनुपस्थित न थी। किन्तु इसके साथ ही इसे काम्य नहीं माना गया बल्कि यह नैतिक अवधारणाओं के विरुद्ध थी, क्योंकि इससे प्रथम पत्नी एवं परिवार के प्रति असुविधा एवं कठिनाई ही उत्पन्न होती थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अवेस्ता और ऋग्वेद दोनों ने पुरुष और स्त्री के मध्य सम्बन्धों के प्रति नैतिक मान्यताओं की स्थापना की और नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध किसी भी सम्बन्ध को समाज में उचित नहीं माना गया।

(५) असंयम, धूर्तता इत्यादि—अवेस्ता में समस्त प्रकार की बुराइयों का मानवीकरण किया गया है। अङ्रामइन्यू[६०], दएव,[६१] अकमनह्,[६२]

---

५५. 'गच्छन जारो न योषितम्' ऋ, ६, ३८.४.
'योषा जारमिव प्रियम्' ६, ३२.५.
'प्रियं न जारः, ऋ, ६, ६६.२३.
'सरन्जारो न योषणम्' ऋ. ६, १०१. १४.

५६. ऋ, १०. १०६. ७; १६२, ५; ६.

५७. 'सम मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव परशवः' ऋ, १, १०५.८.

५८. 'सपत्नी अभिभूवरी' ऋ. १०. १५६. ६,

५९. ऋ, १०. १४५.

६०. यश्न ६१, २; यस्त् ३, १३; १०. ६७. इत्यादि.

६१. यश्न २७. १; ५७. १८; यस्त् ६. ४.

६२. यस्त् १६. ४६; ६६.

द्रुज,[६३] इन्दर,[६४] सउर्व,[६५] तरोमइति,[६६] नओङ्धइत्थ्य,[६७] तऊर्वी,[६८] अएष्म[६९] इत्यादि अच्छे मनुष्यों के मुख्य विरोधी हैं जो मानव मस्तिष्क में हर प्रकार की बुराइयों का समावेश करते हैं और उन्हें पापकर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं। अतः नैतिक अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में वे समस्त कर्म जो दूसरों के लिए हानिकर हैं और पाप से ओत-प्रोत हैं उनकी निन्दा की जाती है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे के प्रति अपने क्रोध को प्रदर्शन करता है तो वह अहुरमज्दा के नियम के अनुसार पाप करता है। अवेस्ता में क्रोध का मानवीकरण अएष्म के रूप में किया गया है जो क्रोध और आवेश की दुष्प्रवृत्ति का प्रदाता और श्राओष का शत्रु है। अहुरमज्दा ने इसकी शत्रुतापूर्ण प्रवृत्तियों को रोकने के लिए श्रओष् का सृजन किया।[७०] इस प्रकार यदि कोई क्रोधपूर्ण व्यवहार करता है तो वह श्राओष के द्वारा दण्डित होता है, किन्तु इसके साथ ही श्रद्धालु जन इसके द्वारा रक्षित भी होते हैं।[७१]

ऋग्वेद में असंयम, क्रोध एवं इस प्रकार के अन्य संवेगों को पाप के रूप में माना गया है और इन सबको दूर करने के लिए देवताओं का आह्वान किया गया है। ऋषियों ने यह कामना की है कि क्रोध उनको अभिभूत न करे[७२] और यज्ञ करने वालों के मन से इसे दूर किया जाय जिससे उनके मन में यह पाप को विकसित न कर सके। देवताओं के क्रोध की भी चर्चा की गई है; जिससे स्वयं देवता ही अपने भक्तों की रक्षा करते हैं।[७३] पूजकों ने कामना की है कि उनके शत्रुओं के हृदय में ही क्रोध नष्ट हो जाय।[७४] क्रोध का सहचर दूसरा पाप धूर्तता है जिससे

---

६३. यस्त् १. १६; ११. ३, यश्न, ६१. ५.

६४. वेन्दीदाद् १०.६.

६५. वही,

६६. वेन्दीदाद् ३.८ ; ११.

६७. वेन्दीदाद् १०.६.

६८. वेन्दीदाद् १०,१०.

६९. यश्न १०.८, यश्त् ११.१५.

७०. यस्त् ११. १५.

७१. यश्न ५७.२५.

७२. ऋ. ८.७१.२.

७३. ऋ. ७.१८. १६; ३४. ४; ८.४.५; १०, १५२.३.

७४. ऋ. १. २४.६; २. २३, १२; २४. १४; ८. ६. १२; १०.३४.१४.

दूर रहने की कामना ऋषियों ने की है।[75] ईर्ष्या और घृणा भी ऐसी ही बुराइयों के अन्तर्गत आते हैं जिन्हें अनैतिक और पापपूर्ण माना गया है इसलिए देवताओं से उनको दूर करने की प्रार्थना की गई है।[76] यदि कोई व्यक्ति इन पापों को अनजाने में भी करता है तो वह भी दण्ड का भागी होता है: इसलिये देवताओं से उन्हें क्षमा करने की प्रार्थना की गई है।[77] दूसरों के प्रति किये गये समस्त अपराधों की भर्त्सना की गई है और उन्हें पाप की संज्ञा दी गई है। इसलिये मनसा, वाचा, कर्मणा-किसी प्रकार से भी कोई किसी के प्रति अपराध न करे, ऐसा आदेश किया गया है।[78]

(६) **चौरकर्म**-अवेस्ता में सभी प्रकार की धूर्तताओं, चोरी, अपवित्रता आदि को गर्हित बतलाया गया है। इन अनैतिक कर्मों के लिये वेन्दीदाद में कठोर दण्ड का विधान किया गया है। अवेस्ता में चोर के लिये प्रयुक्त 'तायूम्' (वैदिक तायु-) शब्द बार-बार आता है जिससे चौरकर्म में निरत लोगों की उपस्थिति का भान होता है। इन सन्दर्भों में चोर को निन्दनीय माना गया है। इससे स्पष्ट है कि इनके विरुद्ध नैतिक नियमों की व्यवस्था भी रही होगी।[79] ऋग्वेद में भी इसकी निन्दा की गई है। इस प्रकार के सन्दर्भों की चर्चा है कि जो वस्त्र, भोजन, पशु आदि की चोरी करता है उसकी सामान्यजन द्वारा निन्दा की जानी चाहिये और उसे दण्ड मिलना चाहिए। संभवत: उस काल में वस्त्र, आभूषण, भोजन, पशु आदि की चोरी सामान्य बात थी।[80]

(७) **हत्या**—विश्व के सभी धर्मों में हत्या के कर्म की निन्दा की गई है। अवेस्ता में स्पष्ट रूप से इसकी निन्दा और इसके विरुद्ध नैतिक नियमों एवं दण्ड का विधान है। अवेस्ता में अन्याय, हिंसा, दबाव आदि की घोर निन्दा मिलती है। यदि कोई इस प्रकार का कार्य करता है तो वह अहुरमज्दा के नियम के विरुद्ध पाप करता है।[81] घृणित और क्रोधित शत्रुओं की प्रताड़ना, ईर्ष्या एवं बुराइयों को दूर करने के लिये सोम (हओम) की प्रार्थना की गई है जो व्यक्ति किसी अन्य के शरीर अथवा

---

७५. ऋ, ७. ८६. ६.

७६. ऋ, ४. ५४. ३; ७. ८६.५.

७७. ऋ० ४, १२, ४.

७८. ऋ० ५, ८५, ७.

७९. यस्न ६४, २४, ३२; वेन्दीदाद १, ९; ४, १०.

८०. ऋ० १, ५०, २; ६५, १; ४. ३८, ५; ५, १५, ५; ५२, १२; ६, १२, ५; ७, ८६, ५.

८१. यस्न ९, २८; वेन्दीदाद ४, १७-२१.

मन को हानि पहुँचाता है वह समस्त मानवता का शत्रु समझा जाता है। अतः सोम से प्रार्थना की गई है कि ऐसे लोगों के पैरों से वह गति छीन ले और उनके ऊपर अन्धकार का आवरण प्रक्षिप्त करे जिससे उनकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाय।[८२] साथ ही उसके प्रार्थना की गई कि हत्यारों, रक्तपिपासुओं, क्रूरकर्मियों, क्रोधियों के ऊपर वह अपनी गदा का प्रहार करे।[८३]

ऋग्वेद में हमें 'मूरदेवान्' का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसकी व्याख्या सायण ने 'मारकव्यापारान्' के रूप में प्रस्तुत की है, जिससे इस काल के हत्याकर्म में रत लोगों का संकेत प्राप्त होता है।[८४] हत्यारों का दूसरा नाम 'असुतृप'[८५] मिलता है और इसके द्वारा भी हत्यारों की उस काल में उपस्थिति ज्ञात होती है। इन्हीं लोगों को निन्दनीय यातुधान के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है जो असुरों, राक्षसों के समीप हैं। इस प्रकार वैदिक कालीन नैतिक धारणाओं के विरुद्ध इन कर्मों का उल्लेख किया गया है। देवताओं की स्तुति इनसे रक्षा करने[८६] एवं इनका नाश करने के लिये[८७] की गई हैं।

(८) **मांस-भक्षण**—अवेस्ता और ऋग्वेद में कच्चा मांस भक्षण अनैतिकता के अन्तर्गत माना गया है। अवेस्ता में मांस भक्षियों की चर्चा है, किन्तु कच्चा मांस भक्षण या मानव-मांस भक्षण जैसे कुकृत्यों की चर्चा नहीं मिलती। ऋग्वेद में ऐसे संदर्भ हैं जहाँ आमाद,[८९] क्रव्याद,[९०] क्रविष्णु[९१] और यातुधान[९२] जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा नरभक्षियों या कच्चा मांस खाने वालों को गर्हा की दृष्टि से देखा गया है। श्वपाकी को देवता भी नहीं क्षमा करते।[९३]

---

८२. यस्न ९, २६.
८३. वही ९, ३०-३१.
८४. ऋ० १०. ८७, ११; १४; १६२, ५.
८५. ऋ० १०, ८२, ७; ८७, १४.
८६. ऋ० १, ३६, १५, ८, ६७, ११; १६२,३;
८७. ऋ० २, २३, १२; ६, १६, ३२; ७५, १६; ७, ५९, ८.
८८. वेन्दीदाद् ७, २३.
८९. ऋ० १०, ८७, ७.
९०. ऋ० ७, १०४, २; १०, १६, ९; ८७, २.
९१. ऋ० १०, ८७, ५.
९२. ऋ० १, ३५, १०; १०, ८७, ?, ३, ४.
९३. ऋ० ४, १८, १३.

(९) प्रमाद, नशा, द्यूतक्रीड़ा आदि—प्रमाद, आलस्य, नशाखोरी, जुआ आदि ऐसी बुराइयाँ हैं जो मानव के व्यक्तित्व के विकास में अवरोध बनकर उसकी अन्तरात्मा के ऊपर मैल का आवरण जनती हैं। वे सत्य की निष्ठा के विरोधी गुणों का मन में विकास करती हैं। अवेस्ता में सच्चाई, पवित्रता, न्याय आदि को बार-बार उद्घोषित किया गया है, जिनके अवरोधक तत्त्व के रूप में इन्हें स्वीकार किया गया है। मानव जीवन का दर्शन 'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' में निहित है। 'क्रियाशीलता' कठिन परिश्रम, प्रयत्न' आदि अहुरमज्दा के धर्म के सर्वोच्च गुण हैं।[९४]

ऋग्वेद में भी इन बुराइयों की आलोचना की गई है। ऋग्वेद का यह कथन कि कठिन परिश्रम के बिना देवताओं का सख्यभाव नहीं प्राप्त होता,[९५] इस बात का प्रमाण है कि प्रमाद या आलस्य अनैतिक माना जाता था। इसी के साथ सुरापान, द्यूतक्रीड़ा भी गर्हित मानी गई हैं।[९६] मनुष्य को अपना कृषिकर्म करने और जुआ न खेलने की सलाह अक्ष सूक्त में दी गई है।[९७]

(१०) अतिथि सत्कार, दान, दया, उदारता, मानवता आदि—अवेस्ता में अतिथि सत्कार को मनुष्य के विहित कर्तव्यों के अन्तर्गत रखा गया है। अतिथि सत्कार, उपकार, दया और मानवता का अभाव पाप के अन्तर्गत आता है।[९८] दान दया और धर्माधिकारियों के प्रति आदरभाव ये सभी जरथुस्त्र के आदेशों के अन्तर्गत आते हैं।[९९] गरीबों के उनकी याचना अनुसार वस्त्रादि दान करना निश्चित कर्तव्यों में है। इस कर्तव्य का निर्वाह न करने से दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं।[१००]

ऋग्वैदिक समाज में तो यह नियम ही था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मित्रों एवं अतिथियों को बाँटकर ही भोजन करना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति अकेले भोजन करता है तो वह पाप ही खाता है और उसे ऊर्ध्वलोक या स्वर्ग में स्थान नहीं

---

९४. M. N. Dhalla, op. cit. P. 16.

९५. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ऋ० ४, ३३, ११.

९६. सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः—ऋ० ७, ८६, ६.

९७. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व — ऋ० १०, ३४, १३.

९८. वेन्दीदाद् १८, ३४, यस्न ३३, २, ५३, ५.

९९. यस्न ३३,३९.

१००. वेन्दीदाद्, फरगार्द १८, ७९.

मिलेगा।[१०१] जिस भोजन को न तो अर्यमान् को समर्पित किया गया हो और न किसी मित्र को ही, ऐसा भोजन ग्रहण करने वाला मात्र पाप का भक्षण करता है। यह भोजन उसकी मृत्यु का प्रतिरूप है।[१०२] इस प्रकार के नैतिक मूल्यों का प्रचार प्रसार समाज में सह अस्तित्व, मित्रता एवं बन्धुत्व की भावना के विकास के लिये किया गया था। यदि कोई व्यक्ति वास्तव में धनी है और भोजन-दान में समर्थ है, किन्तु यदि वह दान नहीं करता है तो वह देवताओं का कृपापात्र नहीं हो सकता।[१०३] जो गरीबों को भोजन देता है वही वास्तव में सद्गृहस्थ है और उसका भोजन भी पवित्र है। वह निश्चय ही अपने शत्रुओं को भी मित्र बना लेगा।[१०४]

ऋग्वेद में उदारता एवं दान की चर्चा बार-बार की गई है। दानशील व्यक्ति दीर्घजीवन एवं अमृतत्व की प्राप्ति करता है और मृत्यु के पश्चात् देवताओं के उत्तम लोक में गमन करता है।[१०५] वैदिक ऋषियों ने समस्त सृष्टि के कल्याण की कामना की है और देवताओं से दया, शान्ति, समृद्धि सुख एवं आनन्द प्रदान करने की प्रार्थना की है। उन्होंने एक साथ बैठने, चलने, भोजन करने आदि की कामना की है, जिससे सभी अपने जीवन में आनन्द की प्राप्ति कर सकें।[१०६]

(११) उपसंहार—ऋग्वेद और अवेस्ता की नैतिक धारणाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि दोनों में नैतिक धारणाओं का विकास बहुत अधिक हो चुका था। किन्तु अवेस्ता में ऋग्वेद की अपेक्षा विधानों का निर्माण अधिक विकसित प्रतीत होता है, और उसमें भी वेन्दीदाद् जैसे अवान्तरकालीन अंशों मे और अधिक। इस प्रकार अवेस्ता की गाथाओं के विचार संहिता के समीप

---

१०१. न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान् न तदोकोअस्ति
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥—ऋ० १०, ११७, ४.

१०२. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी ॥—ऋ० १०, ११७, ६.

१०३. ऋ० १०, ११७, २.

१०४. ऋ० १०, ११७, ३.

१०५. ऋ० १.१ २५.५; ६,१०; १२३.१३; ३.५४.२०; ५.८२: १०.१९१.२-४.

१०६ ऋ०, १.११४.८.

में जब कि वेन्दीदाद् सूत्र काल की अवधारणाओं से साम्य रखता है। जिस प्रकार से ऋग्वेद के दशम मण्डल में अधिक विकसित विचारधारायें हैं वैसे ही अवेस्ता के अवान्तरकालीन अंशों—वेन्दीदाद् आदि में हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज धीरे-धीरे विकास की ओर अग्रसर हो रहा था और नैतिक मूल्य परिवर्तन और परिवर्द्धन की गति में थे। विल डुरान्त के शब्दों में हम कह सकते हैं कि—"Morality begins with association and interdependce and organication, life in society requires the concession of some part of the individual's sovereignty to the common order; and ultimately the norm of conduet becomes the weifare of the group.[१०७]" ईरानियन और वैदिक समाज के लोग इस तथ्य को अच्छी प्रकार जानते थे, इसीलिये उन्होंने सर्वजनहिताय ही समस्त नियमों की व्यवस्था की। इसलिये सबके सह अस्तित्व की वैदिक कामना के साथ ही इस लेख का समापन कर रहा हूँ—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।। —ऋ० १०.१९१.४.

'तुम्हारे प्रयास एवं लक्ष्य समान हों, तुम्हारे हृदय की कामनायें समान हों, तुम्हारे विचार समान हों, तुम्हारे विचार समान हों जिससे की तुम सब में पूर्ण सहभाव हो।"

———

१०७. Will Durant, The Story of Philosophy, New York 19 5, P.34.
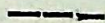
ऋग्वेद २.१२.३ : नवीन व्याख्या

भूमिका एवं उद्देश्य

जहाँ तक ऋग्वेद की व्याख्या का प्रश्न है आज भी ऋग्वेद हमारे सामने अनेक नई-नई समस्याएँ लेकर उपस्थित हैं। कभी किसी सम्पूर्ण सूक्त की व्याख्या, एक मन्त्र की व्याख्या और कभी किसी विशिष्ट शब्द की व्याख्या व्याख्याकारों के मन में नए-नए प्रश्नों को कुरेदती रहती है। ऋग्वेद की व्याख्या में संलग्न विद्यार्थियों के मन में जब भी यह नए प्रश्न उठते हैं, उनके सुलझाने का प्रयास भी मन में तत्काल प्रारम्भ हो जाता है। परम्परागत व्याख्याकारों अथवा आधुनिक व्याख्याकारों ने जिन व्याख्याओं को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है उनमें बहुत सी ऐसी हैं जिन्हें तत्काल स्वीकारा जा सकता है, और कुछ ऐसी भी हैं जिन पर विवाद उत्पन्न करके नई व्याख्याओं की सम्भावनाओं को जन्म दिया जा सकता है। व्याख्याकारों द्वारा दिये गये अनेक अर्थों में से किसी विशिष्ट अर्थ को स्वीकारा जा सकता है अथवा सभी अर्थों के सामने प्रश्नचिन्ह लगाकर किसी नई व्याख्या को जन्म दिया जा सकता है। प्रस्तुत मन्त्र की परम्परागत और आधुनिक अनेक व्याख्याएँ वर्तमान हैं जिनकी समीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि इन समस्त व्याख्याओं के साथ कुछ विशिष्ट शब्दों के नये अर्थों की उद्भावनाएँ की जा सकती हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण मन्त्र की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

(१) **विभिन्न व्याख्याओं की तुलना**—इसके पहले कि हम कोई समीक्षात्मक दृष्टि प्रस्तुत करें यहाँ यह अधिक उचित होगा कि हम इस मन्त्र की उपलब्ध व्याख्याओं, चाहें वे परम्परागत अथवा आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रदत्त हों, उनका तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन कर लें। इस सम्बन्ध में प्राचीनतम व्याख्या निरुक्त ८.२.२. में दुर्गाचार्य की वृत्ति के रूप में उपलब्ध होती हैं जो इस प्रकार है—

---

* यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य ।

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥

"तृतीयेऽहनि दशरात्रस्य निष्केवल्ये विनियोगः। गृत्समदो ब्रवीति। ऐन्द्रम् रूपमास्थितोऽसुरैर्हन्यमानः किं मा हथ, नाहमिन्द्र इति। कस्तर्हि इन्द्रः ? 'य' 'हत्वा' 'अहिम्' मेघम् 'अरिणात्' 'सप्तसिन्धून्' स्यन्दता, आकाशनदीः "एला च इला च"—इत्यैवमाद्याः 'य' च 'गाः' अप 'उदाजत्' उदगमयत् 'अपधा' अपधानेन उद्घाटनेन 'वलस्य' मेघस्य शिराणाम् छिद्राणाम् 'यः' च 'अश्मनोः' अशनवत्योः द्यावापृथिव्योः 'अन्तः' मध्ये 'अग्निं' 'जजान' जनयति 'य' च समत्सु संग्रामेषु शत्रूणां संवृक् सञ्छेत्ता। 'जनासः' हे असुरजनाः। 'सः' 'इन्द्रः' नाहमिन्द्र इति।"

वेंकट माधव ने इस प्रकार व्याख्या की है—

"यश्च अहिम् हत्वा निरगमयत् सप्तनदीः यो वा पशून् उदाजत्। अपधा विलान्तरनिहिता बलस्यासुरस्य यश्च मेघयोः मध्ये अभिघातजं वैद्युतमग्निं जनयति, सः छेत्ता संग्रामेषु।"[1]

स्कन्दस्वामी ने इस मन्त्र की व्याख्या निरुक्त ३.१५ में इस प्रकार की है—

"गृत्समदाहैन्द्रं रूपमास्थितः। इन्द्रोऽयमिति। मन्यमानैरसुरैर्हन्यमानस्तानाह स्मेत्याख्यातम्। मेघम् हत्वा सप्तसिन्धून् व्यत्ययेन पुल्लिङ्गम्। सिन्धुर्नदीः। नदीनां मध्ये या प्रधानभूताः गंगाद्याः सप्तनद्यस्ताः प्राधान्यान्निर्दशिता मन्त्रद्दशा। अन्तरिक्षनदीर्वा सप्त अम्बा च अम्बाला चेत्येवमाद्याः अरिणात रिणातेर्गतिकर्मणोऽन्तर्णीतण्यर्थस्येदं रूपम्। अगमयत्। योवा पशू के उदाजत् प्रद गमयति इत्यर्थः। अपधा अपेत्येतेषामपेत्येतस्य। (अपेत्यदात्मनं इत्येतस्य) स्थाने आत्मबोधा निधानेन स्थापनेन मेघमात्मनोऽध्यो निधाय तावत् पादाभ्यां मृदनाति यावदुदकमस्मिञ्जातमित्यर्थः। अवधातेनैव! (अपधानेनैव विलोद्घाटनेनैव मेघस्य यश्च अश्मनोरुत्तर अश्मेति मेघनाम पर्वतनाम वा द्यावापृथिव्यौ वा तद् व्यापनयोगात्, अन्तरित्यव्यमधिकरणभूतं मध्यमाचष्टे, द्यावापृथिव्यौ वा अत्राधेयवंशयोस्तरुशाखयोर्वा वायुना संघर्षाजायते तं दावरूपम् अग्निम् वैद्युतं वा जनयति। सः जनासः, हे असुरजनाः इन्द्रो नाहमिति, सम्यक् छेत्ता हन्ता शत्रूणां संग्रामेषु।"

सायण ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

"यः अहिम् मेघम् हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्तसर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दशीला अपः अरिणात् प्रैरयत्। यद्वा सप्त गंगायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात्। 'रीङ् प्रस्रवणे।' क्र्यादिः। यश्च बलस्य बलनामकस्य असुरस्य अपधा तत्कर्तृकान्निरोधान्निरुद्धाः गाः उदाजत् निरगमयत्। अपधा अपपूर्वाद् दधाते 'आतश्चोपसर्गे' (पा० ३, ३, १०६) इति भावे अङ् प्रत्ययः। 'सुपां सुलुक्' इति पञ्चम्या आकारः। यः च अश्मनोः अश्नुते

---

१. **Rigartha d[ī]pik[ā]** (ed. by **L. Sarupa,** Lahore 1939, vol- III, (**RV. 2. 12. 3**)

व्याप्नोत्यन्तरिक्षम् इत्यश्मा मेघः। अत्यन्तमृदुरूपयोर्मेघयोः मध्ये अन्तः वैद्युतमग्निम् जजान उत्पादयामास। यश्च समत्सु संभक्षयन्ति योद्धृणामायूंषि इति समदः संग्रामाः तेषु संवृक् भवति। वृणक्तेर्हिंसार्थस्य क्विपि रूपम्। सः इन्द्र नाहमिति।"

यदि हम इन समस्त परम्परागत व्याख्याओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो यह बात स्पष्ट होगी कि इन समस्त व्याख्याकारों के विचारों में सम्पूर्ण रूप से विभिन्न शब्दों की व्यक्तिगत व्याख्याओं में कुछ को छोड़कर कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है। कुछ व्याख्याकारों ने कुछ विशिष्ट शब्दों की एकाधिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जिनका अनुसरण उनके अवान्तरकालीन व्याख्याकारों ने किया। अहिम्, सप्तसिन्धून्, गाः, अपधा, वलस्य और अश्मनः पदों पर एक से अधिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि व्याख्याकारों के मन में इन पदों के अर्थ पर सन्देह विद्यमान था और उसी संशयात्मक दृष्टि के परिणाम स्वरूप उन्होंने इनकी वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। यहाँ पाश्चात्य व्याख्याकारों द्वारा दी गई व्याख्याओं को प्रस्तुत करना अनुचित न होगा।

पाश्चात्य व्याख्याकारों में विलसन[२] ने सायण का अनुसरण किया है और ग्रिफिथ[३] ने मात्र अश्मनोः पद का अर्थ सायण से भिन्न आकाश और पृथिवी (The Earth and the Sky) किया है। जिसकी तुलना स्कन्द स्वामी द्वारा दिये गये अर्थ 'द्यावापृथिव्यौ वा तद् व्यापनयोगात्' से कर सकते हैं। गेल्डनर[४] ने सायण का अनुसरण किया है किन्तु इसके साथ ही 'अहिम्' का अर्थ 'सर्प' (Drachen) किया है और पदपाठ के विरुद्ध 'अपधा' को 'अपधा.' मानने का सुझाव दिया। उन्होंने ओल्डेन बर्ग के कथन को उद्धृत किया है जिन्होंने कहा है कि अपधा वल का उद्घाटन है जो किसी पहाड़ी गुफा का प्रतीक है जिसमें पणि इत्यादि राक्षस रहते थे। ("durch aufdeckung des vala, Vala bezeichnet sowohl die Berghoele der Panis wie den darin housenden Daemon)"

इस प्रकार विकल्पात्मक और अनुमानात्मक व्याख्याएँ परम्परागत एवं आधुनिक व्याख्याकारों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं जो इस मन्त्र के सम्पूर्ण अर्थ और कुछ शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में नवीन अनुसन्धानों की सम्भावनाओं को जन्म देती हैं। अतः यहाँ पर इन विशिष्ट शब्दों के अर्थों पर विस्तृत विचार करना वांछनीय है।

---

२. **H. H. Wilson** Rig-Veda Translation, Vol. II (Poona 1925) P, 135 f.

३. R. T. H. **Griffith**, Hymns of the Rigveda, Vol. I (Varanasi 1963), P. 273.

४. K. F. **Geldner**, RV. Uebersety I, P. 290.

१.१ अहिम् : विभिन्न व्याख्याएं—अहि शब्द ऋग्वेद में अनेक बार (८६ बार[५]) प्रयुक्त हुआ है और व्याख्याकारों द्वारा इसकी विभिन्न व्याख्याएँ दी गई हैं। निघण्टु[६] में इसके तीन अर्थ संकलित किये गये हैं—(१) मेघ, (२) जल, (३) विशिष्ट नाम, निरूक्तकार[७] ने इसमें एक और अर्थ सर्प जोड़ दिया है। यास्क ने इसकी निष्पत्ति इस प्रकार दी है—'अहि· अयनात् एति अन्तरिक्षे, अयमपि इतरो अहिः एतस्मात् एव, निर्ह्रसितोपसर्गः आहन्तीति ।[८]

इस प्रकार यास्क के अनुसार इसे इ अथवा अय् धातु (जाने अर्थ में) अथवा इ+आ+हन् (इण्डो० यूरोपियन अगु—ह—इ—'सर्प' लिथु—अङ्गिस—सर्प[९]) से निष्पन्न किया जा सकता है और इसका धात्वर्थ 'वह जो जाता है' अथवा 'वह जो मारता है' (आहन्तीति) होगा। किन्तु यह निष्पत्ति सन्देह के परे नहीं है।

वेंकटमाधव[१०] ने इसका अर्थ 'असुर' और 'आहन्ता' (मारने वाला) किया है जो निश्चय ही यास्क का अनुसरण मात्र है। सायण ने इसके साथ अर्थ किये हैं—(१) अन्तरिक्ष, (२) जल, (३) मेघ, (४) वृत्त का नाम, (५) अग्नि का नाम, (६) हनन कर्ता, और (७) सर्प, किन्तु इन सभी अर्थों को निघण्टु और निरुक्त में खोजा जा सकता है। आधुनिक व्याख्याकारों में रोठ, ग्रासमान, गेल्डनर आदि ने इन्हीं अर्थों का अनुसरण किया है।

१.२ अहि, दानु और वृत्र : इनका वल से सम्बन्ध—यहाँ मैं एक समीकरण प्रस्तुत करना चाहूँगा; अहि = दानु = वृत्र = वल।

यह समीकरण वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त इन नामों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इन्द्र को अहि का हनन करते हुए कहा गया है (द्रष्टव्य ३.३२. ११; ५. ३०. ६.)। ऋग्वेद २. १२. ११. में इन्द्र को दानु का हनन करते हुए बतलाया गया है—(यो अहिम ज़घान दानुम शयानम्……)। इसी प्रकार ऋग्वेद ३.३२. ११. में भी दानु की चर्चा की गई है। ऐसी ही चर्चा ऋग्वेद ६. ७२.३. में भी है जहाँ पर इन्द्र और सोम दोनों मिलकर जल को अवरुद्ध करने वाले वृत्र का हनन करते हैं। इन्द्र-वृत्र मिथक इतना प्रचलित है कि यहाँ पर उसके विस्तार की कोई आवश्यकता

---

५. उपर्युक्त वैदिक 'अहि' और अवेस्तन 'अज़ी' लेख द्रष्टव्य।
६. निघण्टु—१, १०, २१; १, १२, ३१; ५, ४, २६.
७. निरुक्त २, १७.
८. वहीं
९. सिद्धेश्वर वर्मा—Etymologies of Yaska, V. V. R. I., Hoshiarpur 1953, P. 118.
१०. वहीं, मन्त्र २, १२, ३.

नहीं है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि वृत्र, अहि, दानु एक ही व्यक्ति के अनेक नाम हैं जिन्हें विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है—"स यद् वर्तमानमभवत् तस्माद् वृत्रो (नाम) अथ यदपात् समभवत् तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायुश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुः तस्माद दानव इत्याहुः"।[११]

इस कथन में 'अपात' शब्द सम्भवतः अहि के सर्प रूप की ओर सङ्केत करता है, किन्तु यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती है कि वैदिक काल के प्रारम्भ में ही अहि का प्रयोग सर्प अर्थ के द्योतन के लिए होने लगा होगा; क्योंकि ऋग्वेद के प्रारम्भिक अंशों में इस अर्थ का स्पष्ट सङ्केत कहीं भी नहीं है। मात्र अवान्तर कालीन अंश में ही केवल एक वार 'अहिम् न जूर्णम् अति सर्पति त्वचः[१२]' मन्त्रांश मे सर्प की केंचुल की उपमा के साथ अहि का स्पष्ट सर्प अर्थ प्रयुक्त हुआ है। अहि का यह अर्थ भाषा में धीरे-धीरे जल की धाराओं के सर्पण की तुलना के साथ आया होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि अहि, दानु-वृत्र इत्यादि किसी जीवित प्राणी के लिए प्रयुक्त है अथवा कुछ विशिष्ट प्राकृतिक उपादानों के सङ्केत रूप में लाक्षणिक अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु इनका प्रयोग हुआ है। इन नामों के तादात्म्य और इनसे सम्बन्धित देवशास्त्रीय विवेचन के लिए यहाँ पर्याप्त अवकाश नहीं है, किन्तु इनके सम्बन्ध में प्राप्त वैदिक साक्ष्यों के आधार पर इनका एक स्पष्ट चित्र तो उभारा ही जा सकता है। इन्द्र का वृत्र के साथ युद्ध जिसमें इन्द्र वृत्र को मारकर नदियों की धाराओं को प्रवाहित होने के लिए मुक्त करता है, ऋग्वेद में एक प्रसिद्ध मिथक है।[१३] ऐसे ही सन्दर्भों से अहि का भी सम्बन्ध है। इस प्रकार अहि और वृत्र में पूर्ण तादात्म्य की सम्भावना है और कभी-कभी तो, कुछ अपवादों को छोड़कर (जैसे ऋग्वेद ५.३०. ६; अहिम् ओहानमप आशयानम्. ७.३४. १६ अब्जाम्; ८.३०.२०, महान् फिर भी इन्द्र ने उसका हनन किया; २.१२.११ ओजायमानम्) अहि वृत्र के मात्र विशेषण के रूप में आता है और इसके अपने कोई भी विशिष्ट नाम (Epithet) नहीं हैं।[१४] इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्र और अहि दोनों किसी एक ही तत्व को द्योतित करते हैं। इसके साथ ही अहि का तादात्म्य आभु-के साथ स्थापित किया जा सकता है जिसकी चर्चा नासदीय सूक्त में समस्त सृष्टि के आवरणकर्ता के रूप में की गई है।[१५] यह कथन सम्भवतः महान् अन्धकार अथवा मेघों के लिए

---

११. शत० ब्रा० १. १. ३. ४.
१२. ऋ० ६. ८६. ४४.
१३. ऋ० १. ३२. ७; ८०. १२; २. २६. २; ६. १३, १; १८. ६; ३४. ५ इत्यादि.
१४. द्रष्टव्य—**Jan Gonda, Epithets in the Rigveda, P. 134.**

१५. ऋ० १०. १२६.३.

किया गया है जो अपने अन्तर्गत सब कुछ समाहित कर लेते हैं; और इसलिए वृत्र और अहि का तादात्म्य भी अन्धकार और मेघों के साथ स्थापित किया जा सकता है।[१६] वृत्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अपने गर्जन और विद्युत द्वारा इन्द्र को पराजित करने का प्रयास करता है; किन्तु अन्ततः युद्ध में इन्द्र उसको अपने महान् वज्र द्वारा पराजित कर देता है।[१८] यहाँ पर ताण्ड्य ब्राह्मण[१९] के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कथन को उद्धृत किया जा सकता है जिसमे यह कहा गया है कि जब इन्द्र ने वृत्र का हनन किया तब एक बहुत भीषण गर्जना हुई। इस प्रकार विद्युत और गर्जन का यह वर्णन वृत्र के सन्दर्भ में इस बात का स्पष्ट सङ्केत करता है कि वृत्र मेघों की लाक्षणिक अभिव्यक्ति है; और अहि इन मेघों से सम्बन्धित जलधारा है अथवा इन्हीं मेघों का प्रतिरूप है। इस प्रकार यह समस्त प्रतीकात्मकता एक देवशास्त्रीय आवरण में अवगुण्ठित कर दी गई है।

दूसरा प्रश्न दानु से सम्बन्धित है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि इन्द्र उस दानु के हनन कर्त्ता के रूप में वर्णित हैं जो पर्वतों पर शयन कर रहा था।[२०] शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि दानु वर्षा का प्रदाता है जिसके माध्यम से अन्न का संवर्धन होता है।[२१]

यह कथन इस बात पर स्पष्ट प्रकाश डालता है कि दानु का तादात्म्य उस मेघ के साथ है जो वर्षण के माध्यम से अन्न की उत्पत्ति करता है, अन्य भारोपीय भाषाओं में भी दानु का सम्बन्ध जल और धाराओं के साथ है।[२२]

इस प्रकार सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि अहि, वृत्र और दानु का त्रिक् (triad) गतिशील बादलों से सम्बद्ध है जिनका हनन इन्द्र अपने वज्र के द्वारा करके खेतों के लिए जल अथवा धाराओं को प्रवाहित करता है।

यहाँ इस त्रिक (Triad) के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि वैदिक ऋषियों की कल्पना के अन्तर्गत उद्भूत होने वाला इनमें से प्रथम कौन था जिसने देवताओं के

---

१६. ऋ० १०. १२६.३.

१७. ऋ० १.८०. १२. ३२. १३.

१८. ऋ० १. ५२. ६.

१९. तां० ब्रा० १३. ४. १.

२०. ऋ० २. १२. ११.

२१. शत० ब्रा० १. १. ३. ४.

२२. अवेस्तन 'दानु'— नदी; पह्लवी 'दोन'—नदी; ओस्सेटिक 'दोन'—नदी, द्रष्टव्य— Ch. Bartholomae, Altir. Woert. P. 733f.

२३. ऋ० १. ३२. ६.

शत्रु के रूप में अपना स्थान ग्रहण किया। ऋग्वैदिक सन्दर्भों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अहि इस त्रिक में प्रथम था जिसे अहि जाति में प्रथमोत्पन्न के रूप में स्वीकार किया गया है; और जो वैदिक कालीन समाज में इन्द्र के धर्म के उत्पन्न होने के पूर्व एक देवता के रूप में प्रतिष्ठित था जो बात ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा प्रकट होती है, जहाँ पर 'अजएकपाद्' के साथ 'अहिर्बुध्न्य' का आह्वान किया गया है।[२४] वह या तो महासागरीय क्षेत्र का देवता था अथवा अन्तरिक्ष का, जिसका नाम मात्र विश्वेदेवाः सूक्तों में लिया गया है। ऋग्वेद ५.४१. १६. में उसकी प्रार्थना इस रूप में की गई है कि वह अपने पूजकों को हिंसा के प्रति समर्पित न करे जिससे यह सङ्केत मिलता है कि उसकी प्रकृति में कहीं न कहीं हिंसा विद्यमान थी, जिस तत्व का विकास अवान्तर काल में अहि इन्द्र के सम्बन्ध के रूप में हुआ। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि अहिर्बुध्न्य का रूप अहि-वृत्र से भिन्न नहीं था। यद्यपि उसका आह्वान 'अपाम्-नपात' के रूप में किया गया है; किन्तु उसका हिंसक पक्ष भी उभारा गया है।[२५] अहि का तादात्म्य प्राचीन ईरानी संस्कृति के विरोधी तत्व 'अज़ीदहाक' के साथ उपस्थित किया जा सकता है, जिसका वर्णन अवेस्ता में भी किया गया है जहाँ पर तीन जबड़े वाले, तीन सिर वाले और तीन आँखों वाले उसका हनन करेंसास्प के पुत्र यिम के द्वारा किया गया है।[२६] वह निश्चय ही प्राचीन ईरानी संस्कृति में अहुरमज़्द के धर्म का विरोधी था[२७] जो अवान्तर काल में एक मिथक के रूप में वकसित हुआ। यही 'अज़ी या अहि' भारत में इन्द्र के धर्म के विरोधी के रूप में विकसित हुआ जो आसानी से वृत्र के साथ सम्बद्ध किया जा सका और अवान्तर काल में वल के साथ भी उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया।

अहि वृत्र और दानु के त्रिक के परस्पर सम्बन्धों का अवलोकन करने के साथ 'वल' के सम्बन्धों पर भी दृष्टिपात करना होगा। वैदिक 'वल' प्राचीन ईरानी

---

२४. ऋ० १०. ६६. ११.

२५. A. A. Macdonell, Vedic Mythology, P. 43.

२६. यो जनत् अजीम् दहाकॅम्
थ्रिजफनॅम् थ्रिकमॅरॅधॅम्
क्षवश् अषीम् हज़ङ्र यओक्ष्तीम्—यस्न ९. ८.
("जिसने तीन जबड़ों वाले, तीन मूर्घा वाले, छः आँखों वाले और हजार दुष्प्रवृत्तियों वाले अज़ी दहाक का हनन किया").

२७. M. N. Dhalla, Zoroastrian Theology, P. 164; 257.

में 'वर' है जो 'बाड़े' या घिरे स्थान के अर्थ में प्रयुक्त है।[२८] इसका मूल 'वर' भा-यौरूपीय युएर (Uer to shut, shield, to protect, to resist etc.) में देखा जा सकता है; और इस प्रकार वल को लेटिन Valeo (बलवान् होना), और अंग्रेजी Valour तथा Valiant के साथ परस्पर तादात्म्य हेतु जोड़ा जा सकता है।[२९] इसी मूल धातु को वृत्र (वृ=वर=ढंकना, आवृत करना, घेरना आदि) की निष्पत्ति के लिये भी खोजा जा सकता है इस प्रकार निष्पत्ति की दृष्टि से बल और वृत्र में अत्यन्त सन्निकटता है। जैसा कि वृत्र के तीन मुख्य कार्य हैं—(१) जल का अवरोध करना, (२) उषस् या प्रकाश का अवरोध करना, और (३) गायों को घेरना या बन्द करना; इन तीनों कार्यों को उसके साथ तादात्म्य रखने वाले अहि और वल के साथ भी जोड़ा जा सकता है। किन्तु अहि का मुख्य कार्य जल के अवरोध के रूप में है जब कि वल गौओं के साथ सम्बन्धित है जो उनको या तो रक्षा करता है अथवा उन्हें चारों ओर से घेरता है, इसलिए उसे गोमत्' को संज्ञा दी गई (त्वं वलस्य गोमता अपावर् अद्रिवो विलम् —ऋ० १.११.५. 'पत्थरों के आयुध वाले[३०] (इन्द्र) तुम गौओं से युक्त बल के बिल या बाड़े को खोलते हो या उद्घाटित करते हो। इनके साथ वृत्र आसुरी एवं शत्रुतापूर्ण व्यवहारों के लिए प्रसिद्ध है और इसीलिए उपर्युक्त सभी क्रियाओं से उसका सम्बन्ध जोड़ा गया है। यह तत्त्व समस्त भारोपीय देवशास्त्र में तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है।[३१] जहाँ तक वैदिक साहित्य

---

२८. **H. W. Bailey,** Analecta Indo-Scythica II, JRAS. 1954, P. 26 ff.

२९. **Ilya Gershevitch,** The Avestan Hymn to Mithra, Cambridge 1959, P. 162 f.;S. Varma, Ety. Yaska, P. 71.

३०. अद्रिवस् के अर्थ के लिये द्रष्ट **J. Gonda, Epithets in the Rigedav** ('S-Gravenhague, 1959), P. 60. f.

३१. यहाँ Sir George W. Cox को उद्धृत किया जा सकता है "Vrtra the thief is also called **ahi**, the throtting snake, or dragon with three heads, like **geryon,** the stealer of the cows of **Herakles,** or **Kerberos,** whose name reappears in carvara, another epithet of the antogonist of Indra. He is also VALA, the enemy, a name which we trace through the Teutonic lands until we reach the cave of **Wayland Smith** in Berksire (**Grimm, Deutsch Mythologie.** 943). Other names are Suṣṇa, Shambara, Namuci etc. but the most notable of all is Paṇi,

के अवान्तर कालीन भागों का प्रश्न है 'वल' का नाम लुप्त हो गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य आसुरी शक्तियों में वृत्र ही था जिसका विकासात्मक देवशास्त्र अहि, दानु, वल तथा अन्य आसुरी शक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली रहा है और सबसे अधिक शक्तिशाली होने के कारण ही अवान्तर कालीन साहित्य में उसी का नाम शेष रह गया। किन्तु जहाँ तक ऋग्वेद का प्रश्न है 'वल' की भूमिका गौओं को चुराने अथवा उनके घेरने के रूप में महत्वपूर्ण प्रतीत होती है जिसके आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि मूल रूप में वह ईरानियन 'वर' (घेरा या बाड़ा) के रूप में ही रहा है जिसके अन्तर्गत गायों को बर्फ या शीत से बचाने के लिए अथवा चुराने के उद्देश्य से बन्द किया जाता रहा है। इस प्रकार के बाड़ों को अवेस्ता में पख्‌ुमअेषु न्मानअेषु (दृढ़ मकानों में अथवा घुड़शालों में वेन्दिदाद २। २३) कहा गया है जिनके अन्तर्गत पशुओं को बन्द किया जाता था[३२]। पत्थरों की इन गुफाओं से ही गौओं को निकाला जाता था जो उषाओं के अन्धकार से आवृत द्वारों से आगमन के साथ प्रतीक रूप में जोड़ा गया, जिस कल्पना ने वैदिक ऋषियों के मन को उषाकालीन सौन्दर्यानुभूति से अभिभूत किया, जिसे बाद में वल के देवशास्त्रीय रूप का एक नवीन आवरण दे दिया गया। इस प्रकार मूलतः यह 'वर' या 'वल' था जो अवान्तर काल में मिथकों के माध्यम से विकसित होकर विलम्, अपधा, अपहित आदि रूपों में ऋ० में प्रयुक्त हुआ। गायों के साथ उसका बहुल वर्णन उसके विकासात्मक देवशास्त्र की ओर संकेत करता है जो गाः (गौ) के नये-नये अर्थों के द्योतन में सहायक बना।

२. वल और गायें—ऋग्वेद के उन सभी सन्दर्भों, जहाँ गौओं का सम्बन्ध वल से है, का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि गौओं के माध्यम से तीन सुनिश्चित अर्थों का द्योतन होता है जो इस प्रकार हैं—

(१) जल, (२) उषाएँ या किरण और (३) सामान्य गायें। इस कथन के सन्दर्भ में वल के भी तीन पहलू स्पष्ट होते हैं—(१) उस मेघ के रूप में जो जल का अवरोधक है, (२) गहनतम अन्धकार के रूप में जो उषाओं एवं किरणों को अवरुद्ध करता

---

which marks him as a seducer. Such he is enticing the cows of Indra their pasture, and more especially as seeking to tcorrupt Sarama, when at Indra's bidding she comes to reclaim the plundered cattle.

The name Paṇi reappears in Paris, the Seducer of Helen".
—Mythology of Aryan Nations (Varanasi 1963), P. 537.

३२. Cf. **A Hillebrandt, Vedische Mythologie,** I (Breslau, 1927), P. 41.

है, और (३) एक आसुरी शक्ति जो गौओं का अपहरण करती या घेरती है (अवान्तर कालीन देवशास्त्र में पणियों के रूप में)। अब इस वक्तव्य को अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। ऋ० ३. ४५. २ में इन्द्र का आह्वान शत्रुओं के नाशक, वल के भेदक और धाराओं के प्रवहण कर्ता के रूप में किया गया है। इसी प्रकार ऋ० २. १५. ८ में कहा गया है कि "इन्द्र ने वल को उद्घाटित किया और अङ्गिराओं के द्वारा स्तुति किए जाते हुए उसने पर्वतों के कठोर मार्गों का भेदन किया तथा तव एवं उसके अनुयायियों द्वारा खड़ी की गई दीवारों को तोड़ कर उद्घाटित किया"।[33]

यहाँ पर वल और उसके अनुयायियों द्वारा निर्मित अवरोधों[34] का स्वरूप कवि कल्पना प्रसूत मेघों का प्रतीकात्मक रूप है, क्योंकि ऋग्वेद में कहीं भी वल का कोई मानवीकरण नहीं किया गया है।[35] दूसरे सन्दर्भ में (ऋग्वेद १०. १३८. १) आपः और उषाएँ वल के साथ सम्बन्धित हैं। जहाँ इन्द्र को अङ्गिरस की सहायता से वल का हनन करते हुए और आपः तथा उषाओं को बाहर प्रेरित करते हुए कहा गया है (यत्रा दशस्यन् उषसोऋणन्नपः... ...)। यह कथन एक दूसरे सत्य को उद्घाटित करता है जो वल के नाश में इन्द्र और अङ्गिराओं के घनिष्ट संगठन के सम्बन्ध में है। अतः यहाँ पर गौओं की मुक्ति के परिप्रेक्ष्य में इस सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है।

२.१. — इन्द्र और अङ्गिरस तथा उनका विरोधी वल — इन्द्र को अङ्गिराओं के नेता के रूप में आहूत किया गया है।[36] इन्द्र अङ्गिराओं के लिए उन्हीं की सहायता से वल के बाड़े का उद्घाटन करके गौओं का अन्वेषण करता है।[37] कभी कभी वह अङ्गिराओं के द्वारा स्तुति किये जाते हुए वल का हनन करते हुए कहा गया है[38] कुछ अन्य सन्दर्भों के अनुसार अङ्गिराओं का स्थान बृहस्पति ने ले लिया है।[39] जिससे अङ्गिराओं और बृहस्पति के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों का द्योतन

---

३३. **H- D. Velankar**, RV. M. II. (University of Bombay 1966), P. 45.

३४. द्रष्टव्य—कृत्रिमा सदनानि = ऋ० १. ५५. ६.

३५. **Velankar**, Loc. cit.

३६. सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमोऽभूद् वृषा वृषभिः—ऋ० १. १००. ४.

३७. ऋ० १. ५१. ३. ८. १४. ८. ६३. ३ इत्यादि,

३८. ऋ० २,११. २०; १५. ८; ४. ३. ११; १६. ८; ६२. ५; ६. १८. ५.

३९. ऋ० २. २४. ३; १४; ४. ५०. ५; १०. ६८, ४–१०.

होता है। इन्द्र के समान ही वृहस्पति को भी चट्टानों को तोड़कर गौओ को प्राप्त करते हुए कहाँ गया है—

"वृहस्पतिर्भिनद् अद्रिं विदद्गाः समुस्त्रियाभिर्वावसन्त नरः ऋ १. ६२. ३. वृहस्पतिने पर्वतों का भेदन किया और गौओं को प्राप्त किया। गौओ के साथ (उषाओं के साथ) वीरों ने (देवताओं ने) विजयोल्लास की ध्वनि की।" इसी प्रकार इन्द्र भी अङ्गिराओं के लिए गौओं को खोज निकालता है—"उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वंत गुहासती:।

अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ ऋ० ८. १४. ८.
गुहाओं में उनके खोजते हुए इन्द्र ने गौओं को अङ्गिराओं के लिए बाहर प्रेरित किया और वल को नीचे गिराया।"

इस प्रकार के कथनों के अनेक उदाहरण ऋग्वेद में खोजे जा सकते हैं[४०] और इन उदाहरणों में वल इन्द्र वृहस्पति तथा अङ्गिराओं का समान रूप से शत्रु प्रतीत होता है जैसे इन्द्र और अङ्गिरस निरन्तर वल के शत्रु हैं हैं वैसे ही वृहस्पति का शत्रु वल है। वृहस्पति वल को उसके समूह सहित नष्ट कर गौओं को निष्कासित करता है—

"स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रूरोज फलिगं रवेण।

वृहस्पतिरु स्त्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत्॥ ऋ४. ५. ५. सुन्दर स्तुति करने वाले और द्युतिमान गौ के द्वारा वृहस्पति ने दष्ट वल कों तीव्र धन के साथ नष्ट किया; और उन्होंने जोर से चिल्लाते हुए छवि प्रदान करने बाली और कामनाओं को पूर्ण करने वाली गौओं को बाहर निष्कासित किया।[४१]

वृहस्पति केवल गौओं को ही नहीं प्राप्त करते बल्कि सूर्य और उषस् भी उनकी उपलब्धियाँ हैं—

"विभिद्या पुरं शयथेपाचीं निस्त्रीणि सकमुदधेरकृन्तत्। वृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः॥ ऋ १०. ६७. ५.

पुर काभेदन करके और पश्चिमी द्वारों को तोड़कर उसने जल का अवरोध करने वाले तीनों का भेदन किया। आकाश की तरह गर्जन करते हुए वृहस्पति ने सूर्य उपस् और गौओं का अन्वेषण किया।"

---

४०. ऋ० २, १४, ३; १, ६२, ४, ३, ३४, १०; ८, १४, ७; १०, ६२, २, ६७.६.
४१. ऋ० २, २४, ३; १४; १०, ६४, ४.

इस मन्त्र में उदधि से वल के बाड़े की ओर सङ्केत है जैसा कि ऋग्वेद १०. ६७. १०. १११; ४, ८, ४०, ५, में "अर्णव' और ऋग्वेद ५, ५४, ६, में 'अर्वसम्' से सङ्केत मिलता है। उपर्युक्त मन्त्र के अन्तिम दो पादों की तुलना ऋग्वेद १०, ६८. ६. से की सकती है जहाँ पर वृहस्पति अन्धकार को दूर करते हुए उषस् अग्नि और सूर्य की उपलब्धि करते हुए कहे गये हैं।[४२]

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है। कि इन्द्र वृहस्पति ओर अङ्गिरस का एक देवी त्रिक है (Triad) जिसका विरोधी दूसरा आसुरी त्रिक अहि, वृत्र एवं वल का है, जो एक अन्य त्रिकउषस्, आपः एवं गाः का अवरोधक है।

अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक स्वर्गिक त्रिक् दूसरे नारकीय त्रिक् को समाप्त कर, तीसरे स्वर्गीय त्रिक् के उद्धार अथवा मुक्ति या उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार इन तीनों त्रिकों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। इस सम्पूर्ण देवशास्त्रीय संगठना को सृष्टि के कल्याण हेतु अच्छे और बुरे के मध्य का संघर्ष कहा जा सकता है, जो प्राचीन ईरानी संस्कृति में अता के माध्यन से कुछ अधिक ही उजागर हुआ है।[४३]

(३) गाः' के विभिन्न अर्थ—गो शब्द का द्वितीय बहुवचन का रूप 'गाः ऋग्वेद में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सर्वप्रथम यह बाह्य दृष्टि से देखने पर गात्र अर्थ का ही द्योतक प्रतीत होता है; किन्तु गहराई से विचार करने पर इसके सतही अर्थ से भिन्न कुछ अन्य अर्थों की भी प्रतीति होती है। रोठ[४४] और ग्रासमानने[४५] इसके अर्थ प्रस्तुत किये हैं जिनमें यहाँ को उपस्थित किया जा रहा है जिनका प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है—

(१) सूर्य रश्मियाँ
(२) जल या धाराएँ
(३) उषस् या प्रकाश
(४) वाणी
(५) स्तुति (सायण के अनुसार) और छठवाँ गाएँ सामान्य अर्थ में।

---

४२. **K. F. Geldner,** RV. Uebersetzt- III, P. 242 n.

४३. M. N. Dhalla, Zoroastrian Theology (New Kor 1914).
P. 26 53. A. A. Macdonell, Lectures on Comparative Religion (University of Calcutta, 1925), P. 50

४४. Sans' Woert. P. 178.

४५. Woert. zum RV, P, 407.

इन अर्थों के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करना अनुचित न होगा।

(१) सूर्य रश्मियोंमाँ—ऋवेद के बहुत से मन्त्रों में 'गाः' शब्द का प्रयोग सूर्य रश्मियों के लिए हुआ है—

"उदपप्तन्नरुणा मानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत।
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः॥

ऋग्वेद १।६२।२

इनकी लस्य रश्मियाँ अर्ध्वगामी हुई और उन्होंने अपने रथ में अरुण गौओं को युक्त किया."

यहाँ पर उपस् के सन्दर्भ में ':' का सङ्केत स्पष्ट रूप से सूर्य की रश्मियों की ओर है। इसकी तुलना तुलना अन्य सन्दर्भों के साथ साथ भी की जा सकती है।[४६]

(३) जल या जल धाराएँ—इस अर्थ की प्रतीत निम्नलिखित मन्त्र में की जा सकती है—

"अग्नयो न शुशुचाना ऋजीषिणो भृमिं धमन्तो अप गा अवृण्वत। ऋ.२.३४.१ अग्नि के समान प्रकाशित और शीघ्रगामी मरुद्गणों ने अपने वाद्य बजाते हुए जल प्रदान ककने वाली गौओं को अनावृत किया।[४७]"

(३) उषस् या प्रकाश—उषस् को गौओं की माता के रूप में अनेक वार उपस्थित किय: गया है; किन्तु कभी-कभी तुलनात्मक दृष्टि से अथवा सीधे ही 'गाः' शब्द से उषाओं का बोध होता है। इस प्रकार यह शब्द उषाओं का पर्याय बन गया।[४८] प्रकाश को प्रायः अन्धकार के नाश के पश्चात् आते हुए कहा गया है[४९]—

"युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्। ऋ.१.३३.१० वर्वक इन्द्र ने अपने वज्र को ग्रहण किया और उसकी चमक से अन्धकार से गौओं का दोहन किया।"

जब उषस् की प्रथम किरण आकाश को ललाम बनाती है तो उस समय का प्रकाश पुंज प्राची दिशा में लाल गौओं के समान उभरता हुआ दृष्टिगोचर होता है।[५०]

---

४६. ऋ१.१०.८, ४३.५.

४७. **Max Mueller**, SBE. 32, P 298f.

४८. **Hillebrant, Vedische Mylhologie**, 9. 59.

४९. **A. Bergaigne**, Religion de Vedique I, P. 242 ff.

५०. **Hillebrandt** op. cit. P. 41

(४) शब्द या वाणी—गाः वाणी अर्थ में भी प्रयुक्त है, उदाहरणार्थ—

अभिस्वरो निषदा गा अवस्यव
इन्द्रे हिन्वाना द्रविणान्यासत ॥ऋ० १.२१.५.

उन्होंने इन्द्र की स्तुति करते हुये, अपनी वाणी को उसके प्रति प्रेषित करते हुये धन को प्राप्त किया।"

यहाँ पर भी मन्त्र के प्रथम दो पादों में अंगिरसों के साथ वल के संघर्ष और उसके भेदन की बात का सन्दर्भ है।

(५) स्तुति—सायण के अनुसार

सायण ने गाः का अर्थ कुछ सन्दर्भों में स्तुति किया है।[५१]

(६) गायें—सामान्य अर्थ में—ऋग्वेद के विभिन्न सन्दर्भों में गाः का अर्थ सीधे गायें है।[५२]

४.०. उदाजत् के विभिन्न अर्थ—'अजगतिक्षेपणयोः' का सातत्यात्मक[५३] लङ्ग लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन का रूप 'आजत्' यहाँ उप उपसर्ग पूर्वक 'किसी स्थान से बाहर निष्कासित करने' के अर्थ में (heraustreiben),[५४] अथवा 'खोज निकालने' अर्थ में प्रयुक्त है। यह रूप ऋगवेद में केवल तीन बार प्रयुक्त हुआ है[५५]; और प्रत्येक स्थान में यह "वल के बाड़े से गौओं को निष्कासित करने" के सन्दर्भ से संलग्न है। प्रथम दो सन्दर्भों में इन्द्र इसके कर्ता हैं, किन्तु ऋग्वेद २, २४, १४ में बृहस्पति ने "गौओं को निष्कासित किया, अपने मन्त्रों से वल के बाड़े को तोड़ा, अन्धकार को दूर भगाया और सूर्य को प्रकाशित किया।" उत् उपसर्गपूर्वक प्रथम पुरुष बहुवचन लङ्ग् लकार में अज् धातु का रूप केवल एक बार प्रयुक्त हुआ[५६] है; और बिना उपसर्ग के भी एक बार प्रयोग में आया है।[५७] इन दोनों सन्दर्भों में जो "गत्यात्मक और अननुसरणात्मक वर्णन" (Continuative and non-Successive description)[५८] प्रस्तुत करते हैं, वल के बाड़े से गौओं को

---

५१. सा० भा० ऋ० १.८४.१६;२.२१.५.

५२. ऋ० १.८३.४;१२६.५.६.४७.२४;७३.२ इत्यादि.

५३. द्रष्टव्य—J Gondha, The Aspectual Function of the Rgvedic Present And Aorist (S-Gravenhagu, 1962) पृ० १०२.

५४. रोठ और बोथलिक, संस्कृत व्योयरबुर्ट संक्षिप्त१८५६), पृ० १५.

५५. ऋग्वेद २, १२, १३; १४, ३; २४, १४.

५६. ऋग्वेद १०, ६२, २.

५७. ऋग्वेद ४, १, १३.

५८. J Gondha op. cit. पृ० ११५.

निष्कासित करने में पितरों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस धातु के अजति (ऋग्वेद १, ३३, ३), आजत् (ऋग्वेद १, ८३, ५; २, २४, ३; ४, ५०, ५. ८, १४; ८; १०, ६८, ५; ७.)

आजत = (ऋग्वेद १, १६१, ६; ३, ५४, ५).

आजतम् = (ऋग्वेद १, ११२, १६) इत्यादि रूप कुछ अन्य अर्थों का जैसे— 'प्राप्त कराना' 'प्राप्त करना' क्षेपण करना' 'गतिशील बनाना' आदि अर्थों का भी संकेत देते हैं।

इस प्रकार 'आजत्' के धात्वर्थ के विभिन्न रूपों को विस्तार दिया जा सकता है; किन्तु उत् उपसर्ग से युक्त होने पर इसका अर्थ "किसी को बहिष्कृत करना या निष्कासित करना" अथवा "किसी स्थान से कुछ खोज निकालना" ही है जो उपर्युक्त सन्दर्भों के माध्यम से स्पष्ट होता है; और और इसके साथ ही यह 'अपधा' के अर्थ एवं स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है।

(५) अपधा: एक विवादास्पद रूप—वैदिक साहित्य में 'अपधा' शब्द का प्रयोग मात्र यहीं पर हुआ है। जहाँ तक इसके अर्थ का प्रश्न है ऋग्वेद के व्याख्याकारों में अधिक मतभेद नहीं है; किन्तु इसका रूप सदैव विवाद का विषय बना रहा। स्कन्दस्वामी और दुर्गाचार्य[५९] ने इसे 'अपधानेन विलोद्घाटनेन' रूप में प्रस्तुत किया है जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने इसे तृतीया एकवचन का रूप माना है, जो सम्भवतः 'प्रतिधा' (एक या प्रतिधा—ऋ० ८, ७७,४) के आधार पर स्वीकार किया गया है। वेङ्कटमाधव[६०] ने इसकी व्याख्या 'विलान्तरपिहिता' रूप में की है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इसे सप्तमी एकवचन का रूप माना, जो 'गुहा' के आधार पर (दासं वर्णमधरम् गुहाकः ऋ० २. १२. ४) हो सकता है। सायण ने इसे पंचमी एकवचन के रूप में स्वीकार किया है।

आधुनिक व्याख्याकारों में रोठ,[६१] ग्रासमान,[६२] लुडविग,[६३] लैनमैन,[६४] मैकडॉनल[६५] और वेलणकर[६६] ने स्कन्दस्वामी की सरणि में इसे तृतीया एकवचन के

५९. Nir. com. 3, 115; 8, 2.

६०. Rigartha Dipika III. (2, 12, 3).

६१. **Sanksrit Woerterbuch s. v.**

६२. **Woerterbuch Zum Rig Veda** (Wiesbaden 1964), P. 72.

६३. **Kommentar zur Rigveda**, Pt. 2, P. 53.

६४. **Noun Inflection in the Veda**, P. 447.

६५. **Vedic Reader** (Oxford Un. Press, 1960), P. 46 f.

६६. Rgveda Mandala II, (Un. of Bombay, 1966). P. 33.

रूप में माना है। जबकि विल्सन[६७], गेल्डनर[६८] और ग्रिफिथ[६९] ने सायण का अनुसरण किया है।

इस प्रकार इन व्याख्याकारों के आधार पर 'अपधा' को तृतीया एक वचन पंचमी एकवचन या सप्तमी एकवचन का रूप माना जा सकता है; किन्तु इनमें कौन सा अधिक उपयुक्त है यह प्रश्न उठाया जा सकता है। इससे तादात्म्य रखने वाले अन्य शब्द 'विलम', 'परिधीन्', 'अपिहितम्' इत्यादि हैं जो समान अर्थों का द्योतन करते हैं; और यह सभी द्वितीया के रूप में हैं जो इन्द्र, बृहस्पति, अङ्गिरस इत्यादि द्वारा या तो नष्ट किये जाते हैं अथवा उद्घाटित किये जाते हैं. कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट की जा सकती है।

(१) इन्द्रो वलस्य विलम् अपौर्णोत—तैत्तिरीय संहिता २, १, ५, १.
इन्द्र ने वल की गुफा को नष्ट किया।

(२) इन्द्रो......भिनद् वलस्य परिधीन्—ऋग्वेद १, ५२, ५.
इन्द्र ने......वल की परिधियों का भेदन किया।

(३) त्वं वलस्य गोमतोऽपावर अद्रिवो विलम्—ऋग्वेद १, ११, ५.
तुमने वल की गुफा को खोला जिसने वहाँ पर गौओं को छिपा रखा था।

(४) अपां विलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार—
ऋग्वेद—१, ३२, ११.
वृत्र को मारकर इन्द्र ने उस गुफा को उद्घाटित किया जिसमें जल का अवरोध किया गया था।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि 'अपधा' किसी क्रिया को द्योतित नहीं करता जैसा कि स्कन्दस्वामी और दुर्गाचार्य ने अपनी 'उद्घाटनेन' व्याख्या में व्यक्त किया है, बल्कि इससे 'बिलम्' जैसे किसी स्थान का द्योतन होता है जहाँ से गौओं को निष्कासित किया जाता है या प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार 'अपधा' को 'प्रातिपदिक अपधा' का पंचमी एकवचन का रूप माना जा सकता है जो 'बाड़े से' अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है।

(६) 'सप्त-सिन्धून' के विभिन्न अर्थ—बहुधा प्रयुक्त 'सप्त-सिन्धून्' व्याख्या की दृष्टि से विवादास्पद है। परम्परागत व्याख्याकारों ने इसे 'सात नदियों' के अर्थ में ग्रहण किया है जैसा कि—'गङ्गाद्याः नद्यः' अथवा 'एला च इला च' आदि 'स्यन्दनाः नदीः' जैसी व्याख्याएँ इस प्रश्न को भी उठाती हैं कि 'सप्त' शब्द यहाँ संख्यावाची है

---

६७. Rigveda Trans. Vol. II, P. 138.

६८. Der Rigveda Ubersetzt, Pt. I, P. 290.

६९. Hymns from the Rigveda (6th ed) Bombay, 1958, P. 116; 310).

अथवा किसी विशिष्ट विशेषण के रूप में प्रयुक्त है जैसा कि ज्ञात है कि लोगों के सांस्कृतिक जीवन में संख्याओं का विशिष्ट स्थान होता है।[७१] 'सप्त' शब्द को यहाँ 'सात' के अर्थ नें ग्रहण किया जा सकता है जैसा कि 'सप्ताश्वः'[७२] (सात अश्वों वाले), 'सप्तास्यः'[७३] (सात मुखों वाले), 'सप्तऋषयः'[७४] (सात ऋषि), 'सप्त चक्रम्[७५], (सात चक्र वाला), 'सप्त नामयः[७६], (सात वहिने, 'सप्त जिह्वः[७७]' (सात जिह्वा वाले) 'सप्त पुत्रम्'[७८] (सात पुत्रों वाले), 'सप्त मावम्'[७९] (सात माताओं वाले), आदि उदाहरणों से सिद्ध होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता हैं कि वैदिक काल में सात अङ्क बहुप्रचलित संख्या थी, जिससे वस्तुओं का बाहुल्य अथवा शुभ शकुन द्योतित किया जाता था।

इस संख्या के प्रति लोगों के मन में भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत प्राचीनकाल से लेकर आज तक जो मोह रहा है वह 'सप्त पदी' जैसी दृष्टियां के माध्यम से अधिक मुखरित होता रहा। अतः हम वह कह सकते हैं कि 'सप्त सिन्धून्' से यहाँ किन्हीं विशिष्ट नदियों के नाम का द्योतन नहीं किया गया है;[८०] किन्तु उन समस्त नदियों का ग्रहण है जिन्हें इन्द्र ने प्रवाहित होने के लिए मुक्त किया।

(७) **अश्मनोः का अर्थ**—अश्मन् का सप्तमी द्विवचन का रूप अश्मनोः ऋग्वेद में केवल यही पर आया है। यहाँ पर अग्नि के वैद्युत रूप का संकेत किया गया है जो अनेक मन्त्रों में चट्टानों में आविष्ट कहा गया है।[८१] अथवा चट्टानों से उत्पन्न

---

७१. See the observation made by F. Heiler, Erschinungs formen und wesender Religion (Stuttgart, 1961), P. 161 ff.

७२. ऋग्वेद ५, ४५, ९.

७३. ऋग्वेद ४, ५०, ४.

७४ ऋग्वेद १०, १०९, ४.

७५, ऋग्वेद १, १६४, ३; २, ४०, ३.

७६. ऋग्वेद ९, १०, ७.

७७. ऋग्वेद ३, ६, २.

७८. ऋग्वेद १, १६४, १.

७९. ऋग्वेद १०, १०७, ४.

८०. For details see A. A. Macdonell and A. B. Kieth, Vedic Index Vol. II, P, 424.

८१. ऋग्वेद २, १, १

हुआ कहा गया है[८२]; और चट्टानों के पुत्र रूप में (अद्रेः सूनुः[८३]) वर्णित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यहाँ यह 'पृथिवी और आकाश' के रूप में नहीं है जैसा कि स्कन्दस्वामी और दुर्गाचार्य ने माना है और जिसका अनुसरण ग्रिफिथ ने किया है।

यह सम्पूर्ण मन्त्र इन्द्र सम्बन्धी देवशास्त्र के छः विशिष्ट कार्यों का संकेत करता है जो इस प्रकार हैं—

(१) अहि के रूप में मेघों का खंडन;

(२) नदियों को प्रवाहित होने के लिए मुक्त करना,

(३) उषस् या प्रकाशरूपा गौओं को निष्कासित करना;

(४) (वाड़े अथवा अवरोध या अन्धकार रूप में) वल को नष्ट करना;

(५) विद्युत रूप अग्नि को दो मेघखंडों के अन्तर्गत उत्पन्न करना, और

(६) छठवां युद्ध में विजयी होना।

इस प्रकार इन्द्र सम्बन्धी देवशास्त्र के समस्त गुण इस अकेले मन्त्र में संकेत रूप में सन्निहित हैं। इसलिये इस मन्त्र का ऋग्वेद में और विशेष रूप इन्द्र सूक्तों के अन्तर्गत अपना विशिष्ट स्थान है। मन्त्र का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—"जिसने अहि (वृत्र) को मारकर सात नदियों को प्रवाहित किया तथा जिसने वल के अपधान से गायों को निष्कासित किया और दो चट्टानों के मध्य अग्नि को उत्पन्न किया, युद्ध में भयङ्कर वह, हे लोगो इन्द्र है।"

———

८२. ऋग्वेद १२, २०, ७.

८३. cf. **A. A. Macdonell, Vedic Reader (OX· Un. Press, 1960), P. 47.**

वेद में मानव की अवधारणा

ऐहिक और पारलौकिक जगत सम्बन्धी मानवीय विश्वासों एवं विचारों के इतिहास की शृंखला का उद्‌भव भारतीय साहित्य में ऋग्वेद से होता है। भारतीय मानस-चिन्तन की परम्परा और परिवर्तन की धारा के विकास को समझने के लिए और विश्व के साथ मानवीय सम्बन्धों के ज्ञान के लिए हर प्रकार के अध्ययन को हमें ऋग्वेद से प्रारम्भ करना पड़ता है। मानव और उसकी प्रवृत्तियों से सम्बन्धित समस्त विचार परम्पराओं के उद्‌भव सम्बन्धी समस्त तत्वों का ज्ञान हमें ऋग्वेद में पर्याप्त रूप में प्राप्त होता है। मनुष्य आकाश अथवा स्थान और काल से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। आकाश और काल के उद्‌भव का ज्ञान केवल अनुमानित हो सकता है; किन्तु मानव के उद्‌भव और उसके जीवन के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के प्रति वैदिक ऋषि पर्याप्त चेतनाशील रहे हैं। वैसे इस ज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने भी उतनी ही कठिनाइयों की अनुभूति की जितना आज हम कर रहे हैं; और सम्भवतः इसीलिए ऋग्वैदिक ऋषि ने इस सृष्टि के उद्‌भव के प्रति यह संशयात्मक घोषणा की—

'कोअद्धा वेद क इह प्रवोचत्,

कुत आजाता कुत इयम् विसृष्टिः—ऋग्वेद १०· २६·६; कौन इस बात को जानता है और कौन इसकी घोषणा कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से उद्‌भूत हुई, और कहाँ से आई।''[1]अपनी सीमाओं का सही अनुभव करते हुए ऋषि ने कहा—''प्रारम्भ में जो कुछ भी स्थित था वह केवल सूनापन था, इसके पश्चात् तपस् की उत्पत्ति हुई और फिर काम की जो प्रथम आत्मा का बीज स्वरूप था; और उसी से यह पृथिवी उत्पन्न हुई और समस्त विश्व उत्पन्न हुआ; किन्तु यह भी कोई निश्चय नहीं है, क्योंकि—'को वेद थत आ बभूव'—'कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँ से प्रारम्भ हुई'—'इसको केवल वही जानता है'—'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्'—'जो सर्वोच्च स्थान में इसका अध्यक्ष है' अथवा वह भी नहीं जानता—

'अङ्गवेद यदि वा न वेद'।[2]''

---

१. अनुवाद अनुसृत—**R. T. H. Griffith**, Hyms of the Rigveda vol. II. Varanasi 1963, P.376.

२. ऋग्वेद १०·१२९·७.

इस प्रकार वैदिक ऋषियों के सीधे सच्चे प्रश्न हैं और उनके उत्तर भी हैं; किन्तु वे यही पर नहीं रुक जाते हैं। सन्तोषजनक उत्तर का प्रयास निरन्तर चलता रहा है। अथर्ववेद के ऋषियों ने कहा कि काल ही वह तत्व है जिसने समस्त सृष्टि की रचना की—

कालेऽयमसुं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह्र भूतं भव्यं चेष्टितं ह वि तिष्ठते।
कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति॥

—अथर्ववेद, १९.५३.५-६

"काल ने ही इस आकाश को उत्पन्न किया और उसी ने ही इस पृथिवी को भी। काल में ही भूत, भविष्यत् और काम्य प्रतिष्ठत है। काल ने ही इस सत्ता को उत्पन्न किया; काल में ही सूर्य तपता है, काल में ही समस्त प्राणी हैं और इसी के अन्तर्गत हमारे नेत्र अवलोकन करते हैं।"

किन्तु काल की विश्व के उद्भावक सम्बन्धी यह अवधारणा अवान्तरकालीन विकास है; क्योंकि ऋग्वेद में काल शब्द का प्रयोग केवल एक स्थान पर हुआ है; और कहीं उसे सृष्टि के नियामक के रूप मे नहीं माना गया है। वहाँ एक दिव्य नियम जो ऋत नाम से विख्यात है वही सृष्टि के प्रारम्भिक गर्भ रूप अग्नि का स्थान या धाम है। इसके पश्चात सर्वज्ञ और सर्वव्यापी विष्णु ऋत के प्रथम गर्भ के रूप में माना गया है।[५] किन्तु ऋत की यह अवधारणा भी अपना सातत्य न बनाये रह सकी; क्योंकि बाद में विश्वकर्मन् को सृष्टि के प्रथम कर्ता के रूप में माना गया —

"यो न पिता जनिता यो विधाता,
धामानि वेद भुवनानि विश्वा"—ऋग्वेद १०.८२.३.

जो हमारा पिता है हमारा जनक है, तथा सबका विधाता है केवल वही समस्त सृष्टि के उद्भव स्थान को जानता है।"[६]

किन्तु यह विश्वकर्मन् भी बहुत काल तक अपना स्थान न बनाये रह सके और उनका स्थान हिरण्यगर्भ पुरुष अथवा प्रजापति अथवा पुरुष ब्रह्म ने ग्रहण कर लिया;[७] और धीरे-धीरे इसी पुरुष को समस्त मानव-जाति के उद्भव कर्ता के रूप

---

३. विस्तार के लिए द्रष्टव्य अथर्व—१९.५३—५४.
४. ऋ० १०,४२ ९.
५. ऋ. १.१५६. ३.
६. ऋ. इसकी तुलना ऋ. १०.८२.१. से करें।
७. ऋ. १०.१२१.१.

में मान लिया गया,[८] जो अदान्तरकाल में अन्तिम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित होकर उपनिषदों में मुख्य चर्चा के विषय बनें। ऋग्वैदिकक ऋषि इसी अन्तिम सत्य की घोषणा करता हुआ कहता है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः—ऋ. १.१६४.४६

मनीषीगण एक ही सत्य को अग्नि, यम, मातरिश्वन् आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।'

अब हमें मनुष्य का इस विश्व के साथ क्या सम्बन्ध है इस पर विचार करना चाहिए। ऋग्वेद में मनुष्य को काम की सन्तान कहा गया है, जो काम सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान था;[९] और जिसने मनुष्य को 'पुलुकामो हि मर्त्यः'[१०] के रूप में उत्पन्न किया। काम की यह सन्तान अपनी अनेक कामनाओं चाहें वे प्रजा की हों अथवा शक्ति की, स्वस्थ शरीर की हो अथवा मेधायुक्त मन की, चाहें सृष्टि की अनेक बाधाओ से रक्षा की अथवा अपनी संस्थिति की हो, उन सभी के पूर्णत्व की वह निरन्तर कामना करता है। अस्थिरता और बाधायें, परिवर्तनशील और क्षणिक सामान्य जीवन की दशाएँ उसके मन में सदैव भय की सृष्टि करती हैं। इसलिए वह इस सृष्टि में ही नहीं बल्कि इस सृष्टि के परे जहाँ उसे अपने कर्मों के अनुरूप अनेक स्वरूप ग्रहण करने हैं उनमें भी स्थैर्य की कामना करता है। उसके आनन्द एवं संस्थिति उनमें के लिए हर प्रकार की स्थिरता अनिवार्य हैं। यही कारण है कि वैदिक व्यक्ति प्रजा पशु, सन्तान, शक्ति आदि के लिए निरन्तर चिन्तित प्रतीत होता है; क्योंकि इन्हीं के कारण उसे इस सृष्टि में स्थिरता प्राप्त हो सकती है। स्थिरता की यह अवधारणा ही वेद में प्रतिष्ठा[११] कहलाती है; और इसकी उपलब्धि में सन्तान और पशु मुख्य साधन हैं इन्हीं दोनों पर वैदिक मानव की सुदृढ़ भित्ति आधारित है वह अपने निजी विश्व की सुदृढ़ नींव की स्थापना करने की निरन्तर कामना करता है जिसमें वह दूसरों के साथ सह अस्तित्व की भावना से निवास कर सके। इसीलिए वह मित्र और वरुण से प्रार्थना करता है—

"अशीमहि गाधम उत प्रतिष्ठाम्,

नमो दिवे बृहते सा दानाय— ऋगवेद ५.४७.७

हम लोग सुदृढ़ नींव और आरामदेय स्थान तथा स्वर्ग में यश और बृहत् स्थान प्राप्त कर सकें।"

८, ऋ. १०.६०. १–१६.

९. ऋ० १०.१ ६.४ : कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

१०. ऋ० १.१७९.५

११. प्रतिष्ठा पर विस्तार से द्रष्टव्य—J, Gonda, Studia Indologica Internationalia, Vol, C' Poona 1951.

मनुष्य भौतिक सुखों के प्रति सदा अनुरक्त रहता है वह इस सृष्टि के अपने चारों ओर भौतिक सुखों को भोगना चाहता है; किन्तु प्राकृतिक शक्तियाँ इन समस्त सुखोपभोग के साधनों का नियमन करती है; और कभी-कभी बाधा एवं भय भी उपस्थित करती हैं। इन भय और बाधाओं से मुक्ति पाने तथा उत्तम आनन्द की उपलब्धि हेतु मानव प्रकृति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का निरन्तर प्रयास करता है। वह इन प्राकृद्विक उपादानों के साथ परस्पर सम्वन्ध और बन्धुत्व की भावना को उत्पन्न करता है और इन शक्तियों में निरन्तर दैवीकरण की स्थापना करता है। आकाश इसके लिए पिता (द्यौःनः पिता),[१२] पृथिवी माता (माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः)[१३], सूर्य शक्ति और प्रेरणा का स्रोत[१४] अग्नि घर का स्वामी (गृहपतिः[१५]), जल जीवन प्रदाता और अमृत[१६] का काय करता है। यहाँ तक कि शारीरिक और मानसिक शक्तियों का भी दैवीकरण किया गया है--

"मया सो अन्नमत्ति यो विवश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधिश्रुत श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

—ऋ० १०.१ ५ ४–५.

"मेरे द्वारा ही वह अन्न खाता है, जो देखता है, जो श्वास लेता है और जो उच्चरित स्वर को सुनता है (वह सव मेरे ही द्वारा करता) इस बात को नहीं जानते हुये भी वे मेरे समीप निवास करते हैं। हे ज्ञानवान् तुम सुनो, मैं तुमसे विश्वास योग्य बात कह रही हूँ। मैं स्वयं ही इस बात को कहती हूँ जिसको मैं चाहती हूँ उसे उग्र बनाती हूँ, उसे सृष्टि कर्ता, ऋषि एवं प्रज्ञा वाला बनाती हूँ।"

ऋगवेद के पश्चात् भी दैवीकरण की यह प्रक्रिया निरन्तर विकसित होती रही है; और ब्राह्मणों तक आते-आते यज्ञ का प्रत्येक पात्र अथवा यज्ञ के काम में आने वाली प्रत्येक वस्तु दैवीकरण की प्रक्रिया से समन्वित हो गई। इससे कभी-कभी ऋगवेद कालीन जीवन मूल्यों एवं उच्चादर्शों को धक्का भी लगा है। ऋगवेद में देवता पिता-माता भाई-मित्र आदि के रूप में प्रतीत होते है, किन्तु उनका स्थान

---

१२. ऋ. १.८९.४; विस्तार के लिये द्र०—**A- A. Macdonell, Veati Mythology lagy-**
१३. अथर्व १२.१.१२
१४. ऋ० २.३८.१ ; यजु० १.१.
१५. ऋ० २.१.२;४. ६.५ इत्यादि.
१६. ऋ० १,८,७; ३.१.११ इत्यादि.

निश्चय ही मानवीय सृष्टि से सदैव ऊपर हैं उनको कभी भी पुत्र अथवा कन्या अथवा सेवक के रूप में नहीं ग्रहण किया गया। इस तथ्य से यह प्रकट होता है कि मानव मन में सदैव उनके प्रति पूज्य भावना निहित रही है प्रत्येक विवाह के समय अग्नि और गन्धर्व ही प्रथमतः नारी का वरण करते हैं और उसके पश्चात् ही वह मनुष्य को समर्पित की जाती है[१७]; किन्तु कभी भी किसी देवी को मानव की पत्नी के रूप में नहीं उद्घोषित किया गया। इसी प्रकार वरुण और इन्द्र को प्रजाओं का राजा कहा गया,[१८] परन्तु इसके विपरीत कभी भी कोई मनुष्य देवताओं का राजा नहीं बन सका।

अपने सुकृत के आधार पर भले ही वे देवताओं की स्थिति को ग्रहण कर लें, और कुछ नहीं मात्र देवताओं का सामीप्य भाव है जिसे देवापि[१९] की कथा से समन्वित किया जा सकता है, किन्तु कभी भी मनुष्य देवताओं से ऊपर नहीं उठ सका देवताओं और मनुष्यों के मध्य यह उच्च निम्न सम्बन्ध इस बात का सङ्केत करता है कि मनुष्य देवताओं के हाथ में अथवा प्राकृतिक शक्तियों के हाथ में जकड़ा हुआ है और वह अपने नियमन के परे है, जिससे वह इन शक्तियों की पूजा, प्रार्थना, अभ्यर्थना अपने जीवन में धन, दीर्घायु एवं सन्तान की प्राप्ति के लिए करता है; किन्तु कभी-कभी कुछ ऐसे भी सन्दर्भ मिलते हैं जहाँ देवताओं और मानवों के मध्य परस्पर आदान-प्रदान का भाव सन्निहित है जैसा कि एक ऋषि कहता है—"देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे—यजु ३·५०। तुम मुझे दो मैं तुम्हें देता हूँ तुम मेरा आधान करो मैं तुम्हारा आधान करता हूँ।"

यह बात निश्चय ही परस्पर सहभाव का द्योतक है जिसे अवान्तरकाल में श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार कहा गया है—"देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम् अवाप्स्यथ ॥गीता ३-११. इस यज्ञ के द्वारा देवताओं की कामना करो; और वे देवता तुम्हारी कामना करें इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की कामना करते हुए तुम लोग उत्तम यश को प्राप्त करो।"

इस प्रकार परस्पर सह अस्तित्व की भावना ने एक दूसरे में सहभाव को उत्पन्न किया; किन्तु कभी-कभी मानव के दुष्कर्मों के कारण देवता उससे अपने को दूर कर लेते हैं जैसा कि ऋग्वैदिक ऋषि वरुण से प्रश्न करता है—"क्व त्यानि सख्या बभूः सचा महे यदवृकं पुरा चित्—ऋ० ७·८८·५ हमारे और तुम्हारे बीच का वह सख्य भाव क्या हुआ, जिसे हमने पहले बहुत ही प्रेम से प्राप्त किया था।"

---

१७. ऋ० १०. १०६. ६.

१८. ऋ० ७.८६. १

१९. ऋ० १०. ९८, ५; ७; ८.

यह सख्य भाव मनुष्य को देवताओं के साथ अपनी शक्तियों का तादात्म्य उपस्थित करने की प्रेरणा देता है। इसीलिए अथर्ववेद में कहा गया है—"ओजोऽस्योजो मे दाह सहोऽसि सहो में दाह—अथर्व २·१७. तुम ओज हो मुझे ओज प्रदान करो, बल हो, बल प्रदान करो।" इस प्रकार मनुष्य शक्ति, विजय आदि की कामना करता है; और उसका प्रत्येक कार्य देवताओं द्वारा प्रेरित होता है। सवितृ मनुष्य को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है; अग्नि उसे धार्मिक कृत्यों के सम्पादन की प्रेरणा देता है; इन्द्र उसे विजयी होने की प्रेरणा देता है; किन्तु इसके साथ ही यदि वह कोई दुष्कृत् करता है तो देवताओं द्वारा उसका निरीक्षण किया जाता है और अपने दुष्कृत्यों का उसे परिणाम भोगना पड़ता है।[२०] यह बात हमें पाप की अवधारणा के सम्बन्ध में कुछ कहने को प्रेरित करती है।

मनुष्य का सम्बन्ध अच्छे और बुरे दोनों से है इसलिए यदि वह दैवी नियम ऋत के अनुकूल काय करता है जो बाद में सामाजिक नियमों एवं व्यवहारों को जन्म देते हैं, तो उसे सुकृत की संज्ञा दी जाती है। इसके विपरीत दुष्कृत् है जो वेद में पाप की अवधारणा को जन्म देता है। ऋग्वेद ६·१६·३२ के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या का विचार करता है तो वह दुष्कृत् है। इसी प्रकार यह किसी भी दुष्कर्म के लिए सामान्य शब्द है; और अनागस (पाप रहित) का विरोधी है। मनुष्य की नियति उसके कार्यों के आधार पर ही नियत होती है। यदि वह अच्छे कर्म करता है; और पाप रहित जीवन व्यतीत करता है तो वह परलोक में सुकृतों का स्थान ग्रहण करता है जिसे पुण्य लोक कहा गया है; और जिसके सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण १·३·६·१० में विचार व्यक्त किया गया है कि—

"एवम् इमान् लोकान् समारूपय अथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा ह एष तयित तस्य रश्मयस्ते सुकृतः।

जब कोई इन ऊपर के लोकों में आरोहण करता है तो वही आरोहण उसका लक्ष्य है, वही उसकी प्रतिष्ठा है; यह जो तपता है उसकी रश्मियाँ ही वे सुकृत है।[२१]"

किन्तु दुष्कृत की नियति इससे भिन्न है वह अन्धकारमय आसुरी लोकों में गमन करता है।[२२]

कभी-कभी मनुष्य अनजान में भी पाप कर बैठता है। ऋग्वेद १०.१६४·३· इस सम्बन्ध में निदर्शन है जहाँ यह कहा गया है कि—'हम लोगों ने जो जान बूझकर

२०. ऋ० १०. १०. ३.

२१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य J. Gonda, Loka in the Veda, p. 130 ff.

२२. यजुर्वेद ४०·३: असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।

कर्म किये हैं अथवा अनजान में किया है, या अपराध की भावना से किया है, जागते समय या सोते हुये किया है उन सभी दुष्कर्मों को अग्नि देवता दूर वहन करें।" इस प्रकार यहाँ अज्ञेय कर्म (अजुष्टम्) की अवधारणा से समाज की रुचि के विरुद्ध कर्मों की ओर संकेत है। मनुष्य यदि समाज रुचि भिन्न कर्म करता है तो वह पाप का भागी होता है। अथव वेद में ऐसे बहुत से सूक्त हैं जिनके अन्तर्गत पाप एवं पापी की स्पष्ट अवधारणा निहित है। मनुष्य इन पापों से मुक्ति चाहता है जिससे वह संकीर्णता, द्वेष, ईर्ष्या आदि से छुटकारा पा सके; और उच्चतर जीवन मूल्यों की प्राप्ति कर सके।[२३] मानव का संकीर्णता से उदारता की ओर, असत्य से सत्य की ओर, दुष्कृत से सुकृत की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर जाने का विधिवत प्रयास वैदिक साहित्य में पग-पग पर प्राप्त होता है।[२४]

जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में अमरता या अमृतत्व की प्राप्ति है।[२५] यह और कुछ नहीं बल्कि अमृत या अन्तिम सत्य के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य उपस्थित करना है। अन्तिम सत्य अथवा परम सत्ता की अवधारणा समय-समय पर बदलती रही है। ऋग्वेद में ऋत, वरुण, अग्नि, स्वर्गलोक इत्यादि क्रमशः परमसत्ता का भान कराते रहे हैं जो अन्ततः स्वर्ग की अवधारणा में परिवर्तित होकर यज्ञ के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य उपस्थित करते रहे हैं। यहाँ पर हमें प्रारम्भिक जीवन मूल्यों का अवमूल्यन सा होता दिखाई देता है। इस काल में मानव का प्रयास यज्ञ कर्मों के माध्यम से निरन्तर स्वर्ग-प्राप्ति रहा है। जो उपनिषद् काल के पूर्व तक पूर्णरूपेण प्रचलित रहा और उपनिषद् काल के बाद भी पुराणों की विचारधारा में भी वही प्रक्रिया चलती रही। इस स्वर्ग और नरक की अवधारणा से उपनिषद् काल में ही कुछ समय के लिए कुछ छुटकारा सा मिला उसका सातत्य कभी समाप्त नहीं हुआ। वास्तव में औपनिषदिक् विचारधारा उदात्त तत्व के साथ इतनी गहराई से जुड़ी रही कि वह सामान्य व्यक्ति की समझ के परे बनी रही। जिससे कि सामान्य जन ने पूर्वकालीन स्वर्ग सम्बन्धी विचारधारा को ग्रहण करने में ही अपना औचित्य समझा। यदि हम पीछे मुड़कर ऋग्वेद कालीन मानव को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि वह निरन्तर अमृतत्व की प्राप्ति के प्रयास में ही संलग्न रहा, क्योंकि वह जानता है कि "वह अनेक कामनाओं से अपने को मुक्त कर सकता है; और धीर या अमर स्वयं सत्ता युक्त,

---

२३. अथर्ववेद ४. २३. १; २४. १. इत्यादि।

२४. 'अनृतात् सत्यमुपैमि'—यजु० १. ५: 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'—

२५. ऋग्वेद ७. ५९. १२; १. ११२. ३; ५. ४३. १७; ७६, ५; ७७. ५; ४. ३, १८. ८१. ३०, १२; ६. ५४. २. ५६.

सन्तृप्त और किसी भी प्रकार मृत्यु से भयभीत या स्वयं में अपूर्ण नहीं है।[२६]" यह धीर की स्थिति देवताओं के साथ जुड़ी हुई है जिसके लिए मनुष्य निरन्तर प्रयास करता है; और जो उसके लिए कभी भी असम्भाव्य नहीं रही, क्योंकि उसके सामने उदाहरण है—'मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः' (ऋग्वेद १·११०·४)—लोगों ने मर्त्य होकर भी अमृतत्व की प्राप्ति कर ली है।'

यह बात अथर्ववेद में बहुत ही अच्छे ढंग से कही गई है।[२७] वहाँ पर बहुत से सूक्तों में उच्चतम सत्ता के साथ मानव मिलन को अनेक सूक्तों में कहा गया है; और आत्मज्ञान को बहुत ही स्पष्ट रूप से जीवन के पूर्णत्व के रूप में स्वीकार किया गया है जिसके माध्यम से व्यक्ति ब्रह्मन् की प्राप्ति करता है।

उपर्युक्त चर्चा से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वैदिक मानव सदैव पारलौकिक जीवन की कामना में ही व्यस्त रहा। जितना वह पारलौकिकता के साथ सम्बद्ध था उतना या उससे कुछ अधिक ही वह इस लौकिक जीवन के प्रति भी उन्मुख और प्रयासशील रहा। वह इस जीवन में भी अपने चारों ओर के परिवेश के साथ सह अस्तित्व की भावना से और मधुर सम्बन्धों के साथ निवास करना चाहता था। इसीलिए तो उसने प्राकृतिक उपादानों से भी मधुमय सह अस्तित्व की कामना की है[२८]—

(१) "मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः
माध्वीर्न सन्त्वोषधीः।

(२) मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः
मधु द्यौरस्तु नः पिता।

(३) मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः
माध्वीरगावो भवन्तु नः।

(४) शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा,
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुः उरुक्रमः।

वायु मधु को प्रवाहित करें, नदियाँ मधु का क्षरण करें और औषधियाँ हमारे लिए मधुमय हो।

रात्रि और उषस् मधुमयी हों और पृथिवी सम्बन्धी समस्त लोक मधुमय हों और हमारे पिता रूप में आकाश भी मधुमय हो।

---

२६ द्रष्टव्य J. Gonda. The Vision of the Vedic Poets the Hague. 1963, p. 229 ff.

२७. अथर्व ६, १०, १८-१६—इत्यादि।

२८. ऋग्वेद १, ६०, ६-८

सभी वनस्पतियाँ मधुमय हों तथा सूर्य भी मधु युक्त हो। हमारी गायें भी मधुवाली हों।

मित्र और वरुण कल्याणकारी बनें और अर्यमन् भी शान्त हों। इन्द्र और बृहस्पति कल्याणकारी हों तथा विस्तीर्ण क्रम वाले विष्णु भी कल्याणकारी बनें।"

यहाँ मधु अमृत के पर्याय रूप में हैं। व्यक्ति अमरता की कामना करता है, और चारों ओर के परिवेश में अपने लिए अमृत की खोज करता है। वह अपने चारों ओर के पर्यावरण को जानता है कि उसमें हर प्रकार का दूषण, हर प्रकार की अशान्ति; और हर प्रकार का कोलाहल समाविष्ट है। इस दूषण, इस कोलाहल; और इस अशान्ति से वह मुक्ति पाना चाहता है इसीलिए वह अपने परिवेश से अपने पर्यावरण से, शान्त होने की, मधुमय होने की प्रार्थना करता है। जिन-जिन पर्यावरणों में, परिवेशों में, उसने अशान्ति की अनुभूति को उन-उन को शान्त होने की, रहने की प्रार्थना की। आकाश, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ सब कुछ उसके परिवेश का निर्माण करती है; और उसके पर्यावरण की रचना करती है। इसलिए इन सबमें उसने शान्ति की, कल्याण की, स्थिरता की, मधुमयता की कामना की है तभी तो प्रत्येक आर्यजन यह प्रार्थना करता है :—

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ॐ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं ॐ शान्तिः शान्तिदेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।"

—यजु० ३६. १७

"आकाश में शान्ति हो, अन्तरिक्ष शान्त हो, पृथिवी शान्त हो, जल शान्त हो, औषधियाँ शान्त हों, वनस्पति शान्त हों, सभी देवता शान्त हों, ब्रह्म शान्ति हो, सभी कुछ शान्त हो, यहाँ तक कि शान्ति कर्म भी शान्त हो और वह शान्ति मुझमें शान्ति का आधान करे।"

मात्र परिवेश अथवा पर्यावरण के कल्याणमय होने की कामना ही नहीं बल्कि अपने समाज में सह अस्तित्व की, सह चिन्तन की, सौमनस्य की कामना भी उसने की। ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त इसी सहभाव की घोषणा है जिसके साथ हम यहाँ मानव की अवधारणा का समापन कर रहे हैं—

"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥"

तुम लोग एक साथ संगमन करो, एक साथ बोलो और तुम्हारा मन एक साथ ज्ञान प्राप्त करे (एक मन वाले बनो), जैसे कि पूर्वकाल में देवताओं ने ऐकमत्य में अपना-अपना भाग स्वीकार किया वैसे ही तुम लोग एक मन होकर अपना-अपना भाग स्वीकार करो।

इनका (ऋत्विकों का) मन्त्र समान हो, समिति (सभा) समान (मनवाली) हो, मन समान हो और (इनका) चित्त (विचार) समान हो। तुम्हारे समक्ष मैं समान मन्त्र की अभिमन्त्रणा करता हूँ और एक समान कवि के द्वारा हवन करता हूँ।

तुम्हारे संकल्प समान हों और तुम्हारे हृदय भी (भावनायें भी) समान हों। तुम्हारा मन (वैसे ही) समान हो जैसा कि तुम्हारा सुन्दर सहभाव होता है।[२९]

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

———

२९. ऋग्वेद १०-१९१-२-४ तक।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

(१) ऋग्वेद संहिता—४ भाग (सायण भाष्य सहित) वैदिक संशोधन मण्डल पूना १९३३-१९४१

(२) ऋग्वेद संहिता—पंचम भाग (पदसूची)—वै० सं० मं० पूना

(३) ऋग्वेद संहिता—४ भाग—वेंकट माधव की ऋगर्थ दीपिका सहित—डा० ल० सरूप द्वारा सम्पादित मोतीलाल बनारसी दास लाहौर १९३९-५५।

(४) ऋग्वेद भाष्य—उद्गीथाचार्य, विश्वबन्धुशास्त्री द्वारा संपा० दयानन्द संस्कृत सीरीज १५, लाहौर १९३५।

(५) ऋग्वेद भाष्य—स्कन्दस्वामी; सी० कु० राजा द्वारा संपादित, मद्रास युनि० संस्कृत सीरीज ८, १९३५।

(६) ऋग्वेद व्याख्या—सी० कु० राजा द्वारा सम्पादित माधव कृत अड्यार पुस्तकालय, मद्रास १९३९।

(७) ऋग्वेद संहिता—सात भाग विश्वबन्धु कृत वी० वी० आर० आई० १९६३-६४।

(८) ऋक् सूक्त वैजयन्ती—प्रा० ह० दा० वेलणकर, वैदिक संशोधन मण्डल पूना १९६५।

(९) ऋग्वेद भाष्य—दयानन्द सरस्वती, अजमेर।

(१०) शुक्ल यजुर्वेद—उवट महीधर भाष्य सहित

(११) कृष्ण यजुर्वेद—तै० सं० भट्ट भास्कर मिश्र—भाष्य सहित। काठक एवं कपिष्ठल सहितायें।

(१२) तै० सं०, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९५७।

(१३) मैत्रायणीय सं०—सातवलेकर, एस० डी० स्वाध्याय मंडल, औंध १९४२।

(१४) सामवेद—देवी चन्द, मालवा स्ट्रीट, नई दिल्ली १९६३।

(१५) अथर्ववेद—गवर्नमेन्ट सेंट्रल बुक डिपो, बाम्बे, १८९५-९८।

(१६) ऐत० ब्रा०—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९३०।

(१७) कौषितकि ब्राह्मण—सम्पादक बी लिण्डनर, जेना, १८८७।

(१८) श० ब्रा० (माध्यन्दिन)—गंगाविष्णु श्री कृष्णदास, कल्याण बम्बई १९३९-४०।

(१९) तैत्तिरीय ब्राह्मण—सम्पादक महादेव शास्त्री तथा श्री निवासाचार्य मैसूर, १९०८-२१।

(२०) ताण्ड्य महाब्राह्मण—कलकत्ता १८७० ।

(२१) षड्विंश ब्राह्मण—जीवानन्द विद्या सागर, कलकत्ता, १८८१

(२२) गोपथ ब्राह्मण—लाइडेन, १९१९ ।

(२३) छान्दोग्य ब्राह्मण—(गुणविष्णु और सायण भाष्य सहित)—संस्कृत कालेज कलकत्ता, १९५८ ।

(२४) बृहदारण्यक उपनिषद्

(२५) छान्दोग्य उपनिषद्

(२६) आश्वलायन श्रौत सूत्र

(२७) ऋग्वेद प्रातिशाख्य—(भाग १, २)—डा० मंगलदेव शास्त्री पंजाब ओरियंटल सं० सिरीज़ इण्डियन प्रेस लि० इलाहाबाद, १९३१ ।

(२८) निरुक्तम्—(दुर्गाचार्य-भाष्य सहित) श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई सं १९६९ ।

(२९) यास्काचार्य प्रणीतम् निरुक्तम्—प्रथमो भागः, वैजनाथ, काशिनाथ राजवाडे, एम० ए० पूना, भण्डारकर ओरियण्टल इं० पूना, १९४० ।

(३०) वाचस्पत्यम् सं० को०—श्री तारानाथ वाचस्पति, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी १९६२ ।

(३१) वैदिक शब्दार्थ पारिजातः—विश्वबन्धु शास्त्री ।

(३२) शब्द कल्पद्रुम—राजा राधाकान्तदेव—चौखम्भा सं० सी० वाराणसी, १९६१ ।

(३३) वैदिक साहित्य और संस्कृति—बलदेव उपाध्याय, द्वि० संस्करण, शारदा मंदिर काशी, १९५८ ।

(३४) मनुस्मृति

(३५) महा भारत—भं० ओ० रि० इं० पूना,

(३६) श्री मद्भागवत पुराण—गोरखपुर संस्करण

(३७) श्री मद्भगवद् गीता

(३८) हरिवंश पुराण

(३९) रघुवंशम्

(४०) तै० आरण्यक

(४१) ऐतरेय आरण्यक

आधुनिक ग्रन्थ सूची

1. **Apte, V. M.**; Sanskrit Dictionary; Delhi, Regvedic Studies.

2. **Atkins, Samuel** D., The Meaning of the Vedic pājas JAOS.

· **Agraval.** V. S.; The Thousand Syllabled Specch, Varanasi—5. 1963.

Sparks from the vedic Fire., Varanasi 1961.

Aurovindo. Shri; Hymns of the Mystic Fire. shri Aurobindo Ashram Pondichery, 1952.

Bailey, H. W, Analecta Indo Scythica.

Bhave. S S.—Soma Hymns of the R. V. Parts;I, II, III Baroda, 1957-1962.

B [illegible] holomae. Christian; Altiranisches Woerterbuch.

Bergaigne. A; La Religion Vedique. 3 vols. Paris 1881.

Bhattacharya, Bishnupad. Yaska's Nirukt.

Cox. W. George.—Comparative Indo European Mythology, Varanasi. 1963.

Dandekar, R. N. Some Aspects of the History of Hinduism Poona. 1967.

Dhalla, M. N. Zoroastrian theology. New York 1914.

Durant, Will—The Story of Philosophy. New York 1965.

Frisk. Grieshes Ety Woert Teil. II.

Geldner, K. F.; Ersterteil, Glosiar, Stutgart, 1907.

Frisk. H.—op. cit II.

Griffith R. T. H. The Hymhs of the Rigveda-vol, I, II, 4thedition. Benaras 1963.

Geldner, K. F, Kommentar, Zweiter, Teil, Stuttgart; Der Rigveda in Auswahl, 1909.

Geldner, K, F, Der Rigveda, Erster, Tell, Harvard, Oriental Series, vol. 33, 34, 35, Leipzig, 1951.

Geldner, K, F, and R, Pischel stuttgart.—Vedische Studien I, II, III 1888.

Geiger, B, Die. Amesa spentas, wiesoaden.

Gershevitch, Ilya—The Avestan Hymn to Mithra, Oxford. 1959.

Grassman,—Woerter buch zum Rgveda. Wiesbaden 1964.

Gonda, J—The original sense and the etymology of skt 'Maya' in Four Studies in the Language of the Veda.

Gonda, j.—The use of the particle ca,Poona 1974. Vak No. 5.

(I) Ancient Iadian ojas. Latin augoes.

(II) Aspects of Early Vishnism. (Utrecht, 1954.)

gonad, Jan' **Loka in the Veda**, Amsterdam 1966 Epithets in the Rigevda, Amsterdam 1959. The Vision of the Vedic poets, The Hagguele 1963. Stylistic Repetitions in the Veda, 1969.

Four Studies in the Language of the Veda, Hague 1959. Change and Continuity in Indian Religion, The Hague 1965. Some Observations on the Relations between "gods" and "powers" in the Veda, The Hague 1957.

The Aspectual Functions of the Rigvedic Present and Aorist, The Hague 1962.

The Meaning of Sanskrit teram Dhaman, 1968, Notes on Names etc. 1971.

The Dual Detities in the Religion of the Veda, London 1974.

Griswold, H, D, The Religion of the Rigveda. Oxford 1923.

Hillebrandt, Vedische Mythologie 1925.

Hodivala, S, K. Indo-Iranian Religion with Paralleeism in the Hindu and Zoroastrion Scriptures, Bombay, 1925.

Jackson, A, V, W, Avesta Grammar, New York 1892.

Keigie Rigveda, (Arrowsmith's Eng. trans.) Boston 1902.

Kieth, A, B, Vedic IndexLudwig, Komhnchtar Zur Rv. Bandl-vI.

Ludwig, A,—Der RV. Deutseh Mit Kommentar Prag. 1876.

Lanman, C. R, Noun Inflection in the Veda. New haven, 1880.

Macdonell, A. A.—lectures on comparative Religion, calcutta 1925.

Vedic Grammer.

Vedic Reader. oxpord, 1917.

Brhaddevata shaunaka, Harvard Uni Press, 1904.

Vedic Mythology.

Macdonell. Katyayana Sarvanukramani of the RV. oxford 1886.

Meyer, Rigvidhana. Rudolf-Berten, 1878.

John, Muir—Original Sanskrit, Texts. vol. I—V, London 1868-71.

Max Mueller, S B E XXXii Delhi 1964.

Mueller, F. Mx. Ihdia, what can it teach us. ?

Olderbeg, Herman; Motilal Berarsidas,—Vedic Hymns S. B. of the East, vol. 46. Delhi, 1964.

Oldenberg, H. Rigveda Text Kritische und exegetishe Noten. Berlin, 1909.

Peter Peterson. Hymns from the Rigveda, 3rd and 6th edition, Bombay Sans. Series, 1938.

Renou, L, La Vedique et Paininen 16 volumes.

Rohnow. K. Trita Aptya.

Sarup, L. Nighantu and Nirukt. Motilal Benarsidas. Delhi. 1962.

Sarupa, L.—Rigartha Dipika Lohore 1939-55

Dr. Siddheswar verma. The Etymologies of yaska; Vishveshvaranad Institute Hosharpur, 1953.

Dr. V. S. sukthankar.—Lectures on the RV. Poona, Oriental Book Agency, 1926.

Taraporewala, J. S—The Divine Songs of Zarathustra. Bombay 1951.

Velankar, H. D.—RV. Maṇḍala VII, Bhartiya, vidya Bhawana Bombay, 1963.

Venkata Sabbiah,—Vedic Studies vol. I, Mysore, 1932.

Wackernagel und Debruenner,—Aetindische Grammatik,

Whitney, W. D. Sankerit Grammar—Translation of the Atharvaveda.

Wilson, H. H.; Rsgveda Translation 6 vol. Banglore 1925-28.

Fatah Singh,—The vedic Etymology:
The sanskriti sadan. Kota, (Rajasthan) 1952.

———

शब्दानुक्रमणिका